

April 2021

*Bulletin of Sri Aurobindo*  
*International Centre of Education*

श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र पत्रिका

(हिन्दी-विभाग)

अप्रैल २०२१



श्रीअरविन्द आश्रम  
पॉण्डिचेरी, भारत

## बुलेटिन अप्रैल २०२१

### विषय-सूची

#### 'पृथ्वी पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति'

अतिमानस तथा दिव्य जीवन	श्रीअरविन्द ३
एक युवा कप्तान के नाम पत्र	'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६ से ८
मानवजाति के लिए उपयोगिता	श्रीअरविन्द १६
अभ्यास	'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८ से १९
सात सूत्र	श्रीअरविन्द २०
नारी और युद्ध	'श्रीमातृवाणी', खण्ड २ से २१
श्रीअरविन्द के उत्तर (८०)	२४

### ‘पृथ्वी पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति’

अपने अन्तिम गद्य-लेखनों में श्रीअरविन्द ने *Bulletin of Physical Education*—शारीरिक शिक्षण की पत्रिका—(जिसका बाद में नाम बदल कर *Bulletin of Sri Aurobindo International Centre of Education*—श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षाकेन्द्र-पत्रिका—कर दिया गया था) के लिए आठ लेख लिखे थे। यह त्रैमासिक पत्रिका फ़रवरी १९४९ में शुरू हुई थी। ये लेख १९४९ तथा १९५० के अंकों में प्रकाशित हुए थे। १९५० में श्रीअरविन्द के शरीर-त्याग के साथ यह कड़ी टूट गयी। बाद में १९५२ में *पृथ्वी पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति* के नाम से यह पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुई।

## अतिमानस तथा दिव्य जीवन

पृथ्वी पर दिव्य जीवन का जो आदर्श हम लोगों ने अपने सामने रखा है वह केवल तभी आ सकता है जब हमारी सत्ता का आध्यात्मिक परिवर्तन हो जाये, एक मूलभूत तथा आधारभूत परिवर्तन; हमारी प्रकृति में एक विकास अथवा क्रान्ति आ जाये। पृथ्वी पर शरीरधारी सत्ता को मन, प्राण तथा शरीर के आवरणों की गुलामी से ऊपर इसकी अपनी आध्यात्मिक वास्तविकता की पूर्ण चेतना तथा नियन्त्रण में उठना होगा तथा इसकी प्रकृति को भी जो अभी इसकी अपनी स्वाभाविक मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक सत्ता की चेतना के अनुरूप है—सत्ता की उच्चतर चेतना तथा उच्चतर शक्ति में तथा आत्मन् के विशालतर तथा मुक्ततर जीवन में उठाना होगा। इसके पूर्ववर्ती आवरण लुप्त नहीं हो जायेंगे, वे अब आवरण अथवा अपूर्ण अभिव्यक्ति नहीं रह जायेंगे बल्कि सच्ची अभिव्यक्ति बन जायेंगे। वे प्रकाश की स्थितियाँ, आध्यात्मिक जीवन की शक्तियाँ और एक आध्यात्मिक जीवन के वाहक बन जायेंगे। परन्तु यह, पुनश्च, तभी हो सकता है जब मन, प्राण तथा शरीर को एक ऐसी सत्ता तथा सत्ता की शक्ति के द्वारा जो उनसे श्रेष्ठतर है—अतिमानस की एक शक्ति के द्वारा—जो हमारी अपूर्ण मानसिक प्रकृति से उतनी ही ऊपर है जितनी कि हमारी मानसिक प्रकृति पशु-जीवन तथा अनुप्राणित जड़-द्रव्य से ऊपर है—स्वीकृत तथा रूपान्तरित नहीं कर दिया जाता।

अतिमानस अपने सारतत्त्व में ही एक सत्य-चेतना है, एक ऐसी चेतना जो सर्वदा अज्ञान से मुक्त है और जो हमारी वर्तमान स्वाभाविक अथवा विकासशील सत्ता का आधार है तथा जिससे हमारे अन्दर की प्रकृति आत्मज्ञान तथा वैश्व ज्ञान तथा एक यथार्थ चेतना और विश्व में अपनी सत्ता के यथार्थ उपयोग तक पहुँचने का प्रयास कर रही है। अतिमानस में, क्योंकि यह एक सत्य-चेतना है, यह ज्ञान अन्तर्निहित है और सच्ची सत्ता की यह शक्ति इसमें सहज रूप से विद्यमान है। इसका मार्ग सीधा है और अपने लक्ष्य तक यह सीधे जा सकता है, इसका क्षेत्र

विस्तृत है और इसे असीम भी बनाया जा सकता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि इसकी प्रकृति में ही ज्ञान है, इसे ज्ञान अर्जित नहीं करना पड़ता बल्कि इस पर इसका स्वाभाविक अधिकार है। इसके क्रम निश्चेतना से या अज्ञान से कुछ अपूर्ण प्रकाश की ओर नहीं जाते बल्कि सत्य से महानतर सत्य की ओर, यथार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान से गहनतर प्रत्यक्ष ज्ञान की ओर, अन्तर्भास से अन्तर्भास की ओर, प्रदीपन से चरम और असीम प्रदीप्ति की ओर, वर्धनशील विस्तारों से चरम विस्तारों और अनन्तता तक जाते हैं। अपनी पराकाष्ठाओं पर यह दिव्य सर्वज्ञता तथा दिव्य सर्वशक्तिमत्ता का स्वामी बन जाता है, और यहाँ तक कि यह अपनी क्रमिक आत्माभिव्यक्ति की विकासात्मक गति में भी—जिसमें अन्ततः यह अपनी उच्चतम ऊँचाइयों को उद्घाटित कर सकता है—यह मूलतः अपनी प्रकृति से ही अज्ञान और भूल से मुक्त है। यह सत्य और प्रकाश से आरम्भ होता है और सदा ही सत्य और प्रकाश में गति करता है। जिस प्रकार इसका ज्ञान सदा सत्यमय होता है, उसी प्रकार इसका संकल्प भी सदा सत्यमय होता है। इसे वस्तुओं के साथ व्यवहार में टटोलना या अनुमान करना नहीं पड़ता या इसके क्रम लड़खड़ाते नहीं। अतिमानस में संवेग, या यह कहें कि भावना सत्य से विचलित नहीं होती, भूलें नहीं करती, यथार्थ और वास्तविक से मुँह नहीं मोड़ती। यह सौन्दर्य तथा आनन्द का दुरुपयोग नहीं करती अथवा दिव्य साधुता से दूर नहीं भटकती। अतिमानस में बुद्धि पथभ्रष्ट नहीं कर सकती अथवा स्थूलता में नहीं भटकती जो कि यहाँ इसकी स्वाभाविक अपूर्णताएँ हैं तथा हमारे अज्ञान द्वारा निन्दा, अविश्वास तथा दुरुपयोग का कारण हैं। यहाँ तक कि अतिमानस द्वारा एक अपूर्ण कथन भी एक ऐसा सत्य है जो इसके आगे के सत्य की ओर ले जाता है, एक ऐसा अपूर्ण कर्म जो पूर्णता की ओर एक क्रम होता है। अतिमानस का समस्त जीवन और कर्म एवं मार्गदर्शन स्वाभाविक रूप से मिथ्याओं एवं अनिश्चितताओं से सुरक्षित रहता है जो कि हमारी नियति है। यह अपनी पूर्णता की ओर सुरक्षापूर्वक गति करता है। एक बार सत्य-चेतना यदि यहाँ अपने सुनिश्चित आधार पर स्थापित हो जाये तब दिव्य जीवन का विकास प्रसन्नतापूर्ण प्रगति के साथ होगा, एक ऐसा प्रयाण जो प्रकाश से होता हुआ आनन्द की ओर जाता है।

अतिमानस दिव्य सत्ता तथा दिव्य प्रकृति की एक शाश्वत वास्तविकता है। यह अपने लोक में पहले से ही सदा अस्तित्ववान् है और सत्ता का इसका अपना तात्त्विक विधान है। इसका सृजन नहीं करना पड़ता अथवा जड़-पदार्थ में अन्तर्वलित अवस्था या अनस्तित्व से बाहर अस्तित्व में प्रकट होना या क्रमिक रूप से विकसित होना नहीं पड़ता जैसा कि मन को स्वयं अपने बारे में ऐसा प्रतीत होता है कि वह प्राण और जड़-पदार्थ से प्रकट हुआ है या उनसे क्रमिक रूप से विकसित हुआ है। अतिमानस की प्रकृति सदा एक-सी रहती है, यह ज्ञान की एक ऐसी सत्ता है जो सत्य से सत्य की ओर जाती है और ऐसी चीज़ का सृजन करती बल्कि उसे अभिव्यक्त करती जाती है जिसे पूर्ववर्ती ज्ञान की शक्ति के द्वारा अभिव्यक्त करना है। इसमें संकट का सामना नहीं करना पड़ता बल्कि सत्ता में ही एक स्वयम्भू नियति निर्दिष्ट रहती है जो वस्तु की अपने-आपमें एक अनिवार्यता है। दिव्य जीवन की इसकी अभिव्यक्ति भी अनिवार्य होगी; इसके

अपने लोक में इसका अपना जीवन दिव्य है और यदि अतिमानस पृथ्वी पर अवतरित होता है तब आवश्यक रूप से यह अपने साथ दिव्य जीवन को लायेगा और इसे यहाँ प्रतिष्ठित करेगा।

अतिमानस मन, प्राण तथा जड़-द्रव्य से परे अस्तित्व की एक श्रेणी है तथा जिस प्रकार मन, प्राण तथा जड़-पदार्थ धरती पर अभिव्यक्त हुए, उसी प्रकार अतिमानस भी इस जड़-पदार्थ के जगत् में कालक्रम में अपरिहार्य रूप से अवश्य अभिव्यक्त होगा। वास्तव में, अतिमानस पहले से विद्यमान है परन्तु यह अन्तर्निहित है, इस अभिव्यक्त मन, प्राण तथा जड़-द्रव्य के पीछे छिपा हुआ है तथा प्रकट रूप से अथवा अपनी शक्ति में क्रियाशील नहीं है। यदि यह क्रियाशील होता भी है तो केवल इन निम्न शक्तियों के माध्यम से होता है और इनकी प्रकृति के द्वारा सीमित हो जाता है। इसीलिए अब तक इसे मान्यता प्राप्त नहीं है। केवल अवतरणशील अतिमानस की समीपता तथा आगमन से यह पृथ्वी पर मुक्त किया जा सकता है और तब यह अपने-आपको हमारे भौतिक, प्राणिक तथा मानसिक भागों के क्रिया-कलाप में रहस्योद्घाटित कर सकता है। इससे ये निम्नतर शक्तियाँ हमारी समस्त सत्ता की एक पूर्ण दिव्यीकृत गतिविधि के अंश बन सकती हैं। इसी से हम लोगों तक एक सम्पूर्ण सिद्ध दिव्यता अथवा दिव्य जीवन आ सकता है। वास्तव में इसी प्रकार जड़-पदार्थ में अन्तर्वलित प्राण और मन ने अपने-आपको पूर्ण रूप से यहाँ प्रकट किया है, क्योंकि जो केवल अन्तर्वलित है वही क्रमिक रूप से विकसित हो सकता है, अन्यथा किसी चीज़ का उद्गमन सम्भव नहीं।

अतिमानसिक सत्य-चेतना की अभिव्यक्ति इसीलिए ऐसी महत्त्वपूर्ण वास्तविकता है जो दिव्य जीवन को सम्भव बनायेगी। जब विचार, आवेग तथा क्रियाशीलता की समस्त गतिविधियाँ एक स्वयम्भू तथा ज्योतिर्मय रूप से स्वचालित सत्य-चेतना द्वारा शासित तथा निर्देशित होने लगे तथा हमारी सम्पूर्ण प्रकृति इसके द्वारा गठित होने लगे तभी दिव्य जीवन सम्पूर्ण तथा निर्बाध होगा। अभी भी, वर्तमान अवस्था में भी, वास्तव में, यद्यपि प्रकट रूप से नहीं, एक गुप्त स्वयम्भू ज्ञान तथा सत्य ही स्वयं को यहाँ सृष्टि में अभिव्यक्त करने के लिए कार्यरत है। भगवान् पहले से ही हम सबके अन्दर विद्यमान हैं और हम सब भी अपनी अन्तर्तम वास्तविकता में वही हैं और इसी वास्तविकता को हमें अभिव्यक्त करना है। यही सत्य दिव्य जीवन की ओर हमें प्रेरित करता है और इस भौतिक सृष्टि में भी दिव्य जीवन का सृजन आवश्यक बना देता है।

तब अतिमानस की अभिव्यक्ति तथा इसकी सत्य-चेतना अवश्यम्भावी है; इस विश्व में देर-सबेर यह होगा ही। परन्तु इसके दो पक्ष हैं, एक है ऊपर से अवतरण तथा दूसरा है नीचे से आरोहण—आत्मन् का आत्मोद्घाटन तथा प्रकृति में एक क्रमिक विकास। आरोहण आवश्यक रूप से एक प्रयास है, प्रकृति की एक कार्य-प्रणाली है, उसके अपने निम्नतर भागों को एक विकासात्मक अथवा क्रान्तिकारी परिवर्तन में, या दिव्य वास्तविकता में रूपान्तर के द्वारा ऊपर उठाने के लिए एक प्रेरणा या आवेग है। और यह एक प्रक्रिया तथा प्रगति अथवा एक द्रुत चमत्कार के द्वारा हो सकता है। आत्मन् का अवतरण या आत्मोद्घाटन ऊपर से परम सत्ता की एक क्रिया है जो सिद्धि को सम्भव बनाती है तथा यह या तो भागवत सहायता के रूप में

प्रकट हो सकती है जो प्रगति तथा प्रक्रिया की पूर्णता लाती है अथवा चमत्कार के अनुमोदन के रूप में हो सकती है। क्रमिक विकास, जैसा कि हम लोग इसे इस जगत् में देखते हैं, एक धीमी तथा कठिन प्रक्रिया है और सचमुच, इसमें सामान्यतः स्थायी परिणाम प्राप्त करने में युगों की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु ऐसा इसलिए होता है क्योंकि यह अपनी प्रकृति में निश्चेतन मूल से एक उद्गमन है, अज्ञान से एक आरम्भ तथा उन प्राकृतिक सत्ताओं की अज्ञान में एक कार्य-प्रणाली है जो एक निश्चेतन शक्ति प्रतीत होती हैं। इसके विपरीत, क्रमविकास प्रकाश में हो सकता है, अब और अधिक अन्धकार में नहीं, जिसमें विकसनशील सत्ता एक सचेतन सहभागी और सहयोगी बन जाती है और ठीक यही चीज़ यहाँ अवश्य होगी। यहाँ तक कि अज्ञान से ज्ञान की ओर प्रयास और प्रगति में भी प्रकृति की ऊँचाइयों पर यदि पूर्ण रूप से प्रयास न भी हो सके फिर भी आंशिक रूप से अवश्य होगा और आध्यात्मिक परिवर्तन, सिद्धि तथा रूपान्तरण की ओर अन्तिम प्रयास में यह अवश्य ही वैसा हो जायेगा। यह इससे भी अधिक तब होगा जब अज्ञान तथा ज्ञान के बीच की विभाजन-रेखा से आगे हमारा पारगमन हो जाये तथा जब क्रमविकास ज्ञान से महत्तर ज्ञान की ओर, चेतना से महत्तर चेतना की ओर तथा सामान्य सत्ता से महानतर सत्ता की ओर जाने लगे। तब साधारण क्रमविकास की धीमी गति की ओर अधिक आवश्यकता नहीं रह जायेगी। तब परिवर्तन द्रुत हो सकता है, तेज़ी से रूपान्तरण पर रूपान्तरण हो सकता है जो हमारे सामान्य वर्तमान मन को चमत्कारों की एक शृंखला प्रतीत होगी। अतिमानसिक स्तरों पर क्रमविकास इसी प्रकार का होगा। उसी प्रकार, यदि सत्ता धीरे-धीरे एक अतिमानसिक स्थिति से निकल कर उससे परे, किन्तु अतिमानसिक स्थिति में ही जाना चाहे, एक स्तर से दूसरे भागवत स्तर तक जो भागवत श्रेणियाँ ही होंगी तथा जिसमें परम अतिमानस या इससे भी परे सत्ता के अप्रत्याशित स्तरों—चित् तथा आनन्द तक मुक्त संवर्धन हो सकता है—यह सब सम्भव होगा।

अतिमानसिक ज्ञान, अतिमानस की सत्य-चेतना अपने-आपमें एक तथा सम्पूर्ण है। जब ज्ञान को स्वेच्छा से सीमित किया जाता है अथवा जो आंशिक अभिव्यक्ति प्रतीत होती है तब वह भी स्वेच्छा से की जाती है। यह सीमितता किसी प्रकार के अज्ञान से नहीं आती। यह ज्ञान का नकार अथवा किसी प्रकार के अज्ञान का परिणाम नहीं होता, क्योंकि सत्य का वह सारा अंश जो अभिव्यक्त नहीं किया जाता, वहाँ अव्यक्त रहता है। सर्वोपरि बात तो यह है कि इसमें अन्तर्विरोध नहीं होते : जो बातें मन के लिए विरोधी प्रतीत होती हैं, यहाँ वे अपने-आपमें अपने समुचित सम्बन्ध तथा समाधान वहन करती हैं—यदि इन प्रकट विरोधियों में सामञ्जस्य के लिए सचमुच मेल-मिलाप की आवश्यकता पड़ती है तब यहाँ वह पूरी हो जाती है। मन में, वैयक्तिक तथा निर्वैयक्तिक दोनों को एक-दूसरे के विरोध में रखने की प्रवृत्ति होती है, मानों ये दोनों परस्पर-विरोधी हों, किन्तु अतिमानस, निम्नतर स्तर पर भी, उन्हें एकमात्र वास्तविकता की पूरक तथा परिपूर्णकारी शक्ति के रूप में देखता है और अधिक विशिष्ट रूप से कहें तब अतिमानस की दृष्टि में वे अन्तर्वलित तथा अपृथक्नीय हैं और स्वयं ही एकमात्र सद्वस्तु हैं।

**व्यक्ति** की सत्ता में निर्वैयक्तता का उससे अपृथक्नीय एक पक्ष निहित रहता है जिसके बिना वह, जो वह है, नहीं बन सकता अथवा वह अपना सम्पूर्ण स्वत्व नहीं हो सकता : **निर्वैयक्तिक** सत्ता अपनी वास्तविकता में सत् की एक स्थिति, चित् की एक स्थिति तथा आनन्द की एक स्थिति नहीं है, बल्कि एक स्वयम्भू सत्ता है, आत्म-चेतन, अपने स्वयम्भू आनन्द से परिपूर्ण, उस आनन्द से परिपूर्ण जो उसकी सत्ता का ही सारतत्त्व है—इसलिए वह एकम् तथा सीमातीत **व्यक्ति** है, जो एकमात्र **पुरुष** है। अतिमानस में ससीम असीम को सीमित नहीं बनाता, अपने को असीम के विपरीत अनुभव नहीं करता; बल्कि यह अपनी ही असीमता को अनुभव करता है : सापेक्ष तथा अस्थायी शाश्वतता का प्रतिवाद नहीं है बल्कि इसके पक्षों का एक समुचित सम्बन्ध है, शाश्वत की एक सहज कार्य-प्रणाली अथवा एक अविनाशी लक्षण है। काल वहाँ प्रसार में केवल शाश्वत है तथा शाश्वत को क्षणिकता में अनुभव किया जा सकता है। इस प्रकार सम्पूर्ण भगवान् अतिमानस में विद्यमान रहते हैं तथा भ्रम या परस्पर-विरोधी माया के किसी सिद्धान्त को, अपने अस्तित्व को न्यायसंगत सिद्ध करने के लिए, आरोपित करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह स्पष्ट होगा कि भगवान् के लिए अपने-आपको या अपनी वास्तविकता को पाने के लिए जीवन से पलायन करना आवश्यक नहीं है। यह सदा उनमें विद्यमान है चाहे वह वैश्व जीवन में हो या अपने परात्पर अस्तित्व में। दिव्य जीवन भगवान् का अथवा परम सद्बस्तु का एक प्रतिवाद नहीं हो सकता। यह उस सद्बस्तु का अंश है, इसका एक पक्ष या इसकी एक अभिव्यक्ति है तथा यह कुछ और नहीं हो सकता। अतिमानसिक लोक पर जीवन में समस्त भगवान् अधिकृत रहते हैं, और जब अतिमानस पृथ्वी पर अवतरित होगा तब यह अपने साथ भगवान् को अवश्य लायेगा तथा उन पर पूर्ण अधिकार को यहाँ सम्भव बनायेगा।

## एक युवा कप्तान के नाम पत्र

(ये पत्र शारीरिक-शिक्षण-विभाग की एक युवा कप्तान के नाम हैं।)

मधुर माँ,

चैत्य परिवर्तन और आध्यात्मिक परिवर्तन में क्या फ़र्क है?

चैत्य परिवर्तन ऐसा परिवर्तन है जो अन्तरस्थ भगवान् के साथ तुम्हारा सम्पर्क साध देता है, जो भगवान् हर सत्ता के केन्द्र में हैं, चैत्य सत्ता उनका कोष और उनकी अभिव्यक्ति है। चैत्य परिवर्तन द्वारा तुम व्यक्तिगत भगवान् से वैश्व भगवान् में और अन्त में परात्पर में चले जाते हो।

आध्यात्मिक परिवर्तन तुम्हें सीधा परम प्रभु के सम्पर्क में ला देता है।

९ सितम्बर १९५९

मधुर माँ,

हम अपने चैत्य व्यक्तित्व को कैसे विकसित कर सकते हैं?

जीवन के सभी अनुभवों द्वारा चैत्य व्यक्तित्व रूप लेता, बढ़ता, विकसित होता और अन्त में एक पूर्ण, सचेतन और मुक्त सत्ता बन जाता है।

विकास की यह प्रक्रिया अथक रूप से अनगिनत जन्मों तक चलती रहती है, और अगर तुम उसके बारे में सचेतन नहीं हो तो इसका कारण यह है कि तुम अपनी चैत्य सत्ता के बारे में सचेतन नहीं हो—क्योंकि वही अनिवार्य आरम्भ-बिन्दु है। अभ्यन्तरीकरण और एकाग्रता द्वारा तुम्हें अपनी चैत्य सत्ता के सचेतन सम्पर्क में आना होता है। इस चैत्य सत्ता का बाहरी सत्ता पर हमेशा प्रभाव रहता है, परन्तु यह प्रभाव केवल एकदम से अपवादिक अवसरों को छोड़ कर प्रायः हमेशा गुह्य रहता है, इसे न तो देखा, न समझा और न ही अनुभव किया जा सकता है।

इस सम्पर्क को मज़बूत बनाने के लिए, और यदि सम्भव हो तो सचेतन चैत्य व्यक्तित्व के विकास में सहायक होने के लिए, एकाग्र होते समय तुम्हें उसकी ओर मुड़ना, उसे जानने और अनुभव करने के लिए अभीप्सा करनी चाहिये, उसके प्रभाव को ग्रहण करने के लिए अपने-आपको खोलना, और हर बार उससे संकेत मिलने पर बहुत सावधानी और सच्चाई के साथ उसका अनुसरण करना चाहिये। चैत्य सत्ता के विकास की आवश्यक शर्तें हैं—एक महान् अभीप्सा में जीना, अन्दर से शान्त रहने के लिए सावधानी बरतना और जहाँ तक बन सके ऐसा ही बने रहना, अपनी सत्ता की सभी क्रियाओं में पूर्ण सच्चाई स्थापित करना।

१० सितम्बर १९५९



मधुर माँ,

हम ऊर्जा को बाहर से अपने अन्दर कैसे खींच सकते हैं?

वह इस पर निर्भर करता है कि हम किस तरह की ऊर्जा को आत्मसात् करना चाहते हैं; क्योंकि सत्ता के हर क्षेत्र के अनुरूप ऊर्जा होती है। अगर यह भौतिक ऊर्जा है तो हम इसे मुख्यतः श्वास-प्रश्वास द्वारा आत्मसात् करते हैं, और जो कुछ श्वास-प्रश्वास को ज़्यादा अच्छा और आसान बनाता है, वह साथ-साथ भौतिक ऊर्जा को आत्मसात् करने की शक्ति को भी बढ़ाता है।

मगर और भी कई तरह की ऊर्जाएँ हैं या फिर उस 'ऊर्जा' के बहुत सारे रूप हैं जो **एकमेव** और विश्वव्यापी है।

और हम श्वास के विविध यौगिक व्यायाम, ध्यान, जप और एकाग्रता द्वारा अपने-आपको 'ऊर्जा' के इन विविध रूपों के साथ सम्पर्क में ला सकते हैं।

१० सितम्बर १९५९

मधुर माँ,

'ऊर्जा' के ये अन्य रूप क्या हैं और वे हमारी साधना में कैसे सहायता देते हैं?

सत्ता के हर क्षेत्र और हर क्रिया-कलाप की अपनी ऊर्जाएँ होती हैं। हम उनका वर्गीकरण सामान्यतः प्राणिक ऊर्जा, मानसिक ऊर्जा, आध्यात्मिक ऊर्जा के रूप में कर सकते हैं। आधुनिक विज्ञान हमें बतलाता है कि अन्ततः जड़-भौतिक घनीभूत ऊर्जा के सिवा और कुछ नहीं है।

चूँकि हमारा योग पूर्ण योग है, इसलिए हमारी उपलब्धि के लिए ऊर्जा के ये सब रूप और प्रकार अनिवार्य हैं।

१२ सितम्बर १९५९

मधुर माँ,

"मनोमय कोष के सतही रूप के सूक्ष्म भौतिक दीर्घाकरण" ('दिव्य जीवन' से)  
का क्या अर्थ है?

इसका मतलब है कि तुम जिस भूत को देखते हो और भूल से उसे ही विगत सत्ता मान लेते हो वह केवल उसका **प्रतिबिम्ब**, एक छाप है (छाया-चित्र की प्रति जैसा) जिसे सतही मानसिक रूप सूक्ष्म भौतिक में छोड़ता है; एक ऐसा प्रतिबिम्ब जो अमुक परिस्थितियों में दिखायी दे सकता है। ये बिम्ब (सिनेमा के बिम्बों की तरह) चल-फिर सकते हैं पर इनमें कोई ठोस वास्तविकता नहीं होती। इन बिम्बों को देखने वाले का भय या भाव कभी-कभी इन्हें ऐसी शक्ति या क्रिया का आभास दे देता है जो सचमुच इनमें नहीं होती। इसीलिए इनसे कभी न डरना चाहिये और

इन्हें उसी सच्चे रूप में पहचानना चाहिये जो वे हैं, अर्थात्, भ्रामक आभास के रूप में।

१४ सितम्बर १९५९

मधुर माँ,

यह कैसे हो सकता है कि हम मन को नीरव करें, स्थिर-अचञ्चल रहें और साथ-ही-साथ अभीप्सा भी करें, तीव्रता और विस्तार भी लायें? क्योंकि जैसे ही हम अभीप्सा करते हैं तो क्या अभीप्सा करने वाला मन नहीं होता?

नहीं; अभीप्सा, विस्तार और तीव्रता हृदय से आते हैं जो भावों का केन्द्र, चैत्य का द्वार या चैत्य की ओर ले जाने वाला द्वार है।

अपने स्वभाव से मन कुतूहली और सब चीज़ों में रुचि रखने वाला होता है। वह देखता है, वह अवलोकन करता है, समझने और समझाने की कोशिश करता है और इस समस्त क्रिया-कलाप के साथ वह अनुभूति को क्षुब्ध कर देता है और उसकी तीव्रता और शक्ति को कम कर देता है।

दूसरी ओर, मन जितना स्थिर और नीरव हो, उतनी ही अधिक अभीप्सा हृदय की गहराई से, अपने उत्साह की पूर्णता में उठती है।

१७ सितम्बर १९५९

मधुर माँ,

हम अहंकार की इच्छा-शक्ति को कैसे दूर कर सकते हैं?

इसका मतलब तो यही होता है कि अहंकार को कैसे दूर कर सकते हैं। यह केवल योग द्वारा ही किया जा सकता है। मानवजाति के आध्यात्मिक इतिहास में योग की बहुत-सी पद्धतियाँ रही हैं—जिनका श्रीअरविन्द ने हमारे लिए 'सिंथेसिस ऑफ़ योग' (योग समन्वय) में वर्णन किया है।

लेकिन अहंकार की इच्छा-शक्ति को **निकाल बाहर** करने से पहले, जिसमें बहुत लम्बा समय लगता है, व्यक्ति अहंकार की इच्छा-शक्ति को भागवत इच्छा-शक्ति के अर्पण करने से शुरू कर सकता है, पहले पग-पग पर और अन्ततः सतत रूप से। इसके लिए पहला क़दम है यह समझ लेना कि हमारे लिए क्या अच्छा और क्या सचमुच ज़रूरी है इसे भगवान् हमसे ज़्यादा अच्छी तरह जानते हैं—केवल हमारी आध्यात्मिक प्रगति के लिए ही नहीं बल्कि हमारे भौतिक योगक्षेम के लिए, शारीरिक स्वास्थ्य और हमारी सत्ता की क्रियाओं के समुचित क्रिया-कलाप के लिए भी।

स्वभावतः यह अहंकार की राय नहीं है, जो समझता है कि वह और सबकी अपेक्षा ज़्यादा अच्छी तरह जानता है कि उसे क्या चाहिये और जो अपने लिए मूल्यांकन और निर्णय

की स्वाधीनता का दावा करता है। लेकिन वह ऐसा इसलिए सोचता और अनुभव करता है क्योंकि वह अज्ञानी है और धीरे-धीरे तुम्हें उसे यह विश्वास दिलाना होगा कि उसका बोध और उसकी समझ सचमुच जान सकने के लिए बहुत ज़्यादा सीमित हैं, कि वह अपनी कामनाओं के अनुसार ही मूल्यांकन करता है जो सत्य के अनुसार न होकर अन्धी हैं।

क्योंकि कामनाएँ आवश्यकताओं की नहीं, पसन्द-नापसन्द की सूचक होती हैं।

१९ सितम्बर १९५९

मधुर माँ,

भगवान् ने अपना मार्ग इतना कठिन क्यों बनाया है? वे चाहें तो उसे सरल बना सकते हैं, है न?

सबसे पहले व्यक्ति को यह जानना चाहिये कि बुद्धि और मन भगवान् के बारे में कुछ भी नहीं समझ सकते। न तो यह कि वे क्या करते हैं, न यह कि वे कैसे करते हैं और यह तो बिलकुल ही नहीं कि वे क्यों करते हैं। भगवान् के बारे में थोड़ा-बहुत जानने के लिए व्यक्ति को विचार से ऊपर उठना चाहिये और चैत्य चेतना में, अन्तरात्मा की चेतना में या आध्यात्मिक चेतना में प्रवेश करना चाहिये।

जिन लोगों को अनुभूति प्राप्त हो चुकी है उन्होंने हमेशा यही कहा है कि पथ की कठिनाइयाँ और दुःख-दर्द वास्तविक नहीं हैं बल्कि मानव अज्ञान की रचनाएँ हैं और जैसे ही व्यक्ति इस अज्ञान से बाहर हो जाता है वैसे ही कठिनाइयों से भी बाहर हो जाता है। भगवान् के साथ सचेतन सम्पर्क होने के साथ ही साथ मनुष्य अनन्य आनन्द की जिस स्थिति में निवास करता है उसके बारे में तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता।

तो उनके अनुसार इस प्रश्न का कोई वास्तविक आधार ही नहीं है और यह पूछा ही नहीं जा सकता।

२१ सितम्बर १९५९

मधुर माँ,

आपने लिखा है कि अपनी चैत्य सत्ता के साथ सचेतन सम्पर्क साधने के लिए तुम “उसे जानने और अनुभव करने के लिए अभीप्सा करो, अपने-आपको उसका प्रभाव ग्रहण करने के लिए खोलो और बहुत सावधानी के साथ... सच्चाई और ईमानदारी के साथ उसका अनुसरण करो।” लेकिन मधुर माँ, मैं नहीं जानती कि यह कैसे किया जाये। मुझे यह ज़्यादा आसान मालूम होता है कि मैं आपके बारे में सोचूँ, आपसे सम्पर्क साधूँ और आपकी ओर खुलूँ।

यह भी एक तरीका है जो निश्चय ही उतना ही अच्छा है जितना दूसरा।

आत्म-सिद्धि पाने के लिए बहुत-से तरीके हैं और हर एक को वह मार्ग चुनना चाहिये जो उसके पास स्वाभाविक रूप से आये।

लेकिन सचमुच प्रभावकारी होने के लिए हर एक मार्ग की अपनी माँगें हैं।

मेरे बारे में सोचते समय तुम्हें केवल बाहरी व्यक्तित्व के बारे में नहीं बल्कि उसके बारे में भी सोचना चाहिये जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है, जो उसके पीछे स्थित है। क्योंकि तुम्हें यह कभी न भूलना चाहिये कि बाहरी व्यक्ति शाश्वत सद्बस्तु का केवल एक रूप और प्रतीक मात्र है और भौतिक रूप द्वारा तुम्हें इस उच्चतर सद्बस्तु की ओर मुड़ना चाहिये। भौतिक सत्ता शाश्वत सद्बस्तु की सच्ची अभिव्यक्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि वह अतिमानसिक अभिव्यक्ति द्वारा पूरी तरह रूपान्तरित न हो जाये। और तब तक तुम्हें उसके द्वारा ही सत्य को पाना चाहिये।

२२ सितम्बर १९५९

मधुर माँ,

क्या नींद में अपने ऊपर पूरी तरह नियन्त्रण पाना सम्भव है? उदाहरण के लिए,  
क्या मैं आपको जब चाहूँ अपने स्वप्नों में देख सकती हूँ?

नींद में नियन्त्रण पूरी तरह सम्भव है और अगर तुम अपने प्रयास में डटी रहो तो वह उत्तरोत्तर आता है। तुम अपने स्वप्न याद करने से शुरू करो, फिर तुम नींद में धीरे-धीरे अधिकाधिक सचेतन बनो और तब तुम न केवल अपने स्वप्नों पर नियन्त्रण पा सकती हो बल्कि नींद में अपनी क्रियाओं का मार्ग-दर्शन और व्यवस्थापन भी कर सकोगी।

अगर तुम अपनी इच्छा और अपने प्रयास में डटी रहो तो निश्चय ही तुम रात को नींद में मेरे पास आना और मुझे पा लेना सीख जाओगी और फिर बाद में जो रात को हुआ होगा वह भी याद रख सकोगी।

इसके लिए दो चीजें ज़रूरी हैं जिन्हें तुम्हें अभीप्सा और शान्त तथा सतत प्रयास द्वारा विकसित करना होगा।

१. अपने विचार को मेरे पास आने और मुझे पाने की इच्छा पर एकाग्र करो; और फिर इसके पीछे लगी रहो, पहले कल्पना के प्रयास द्वारा और फिर स्थूल और बढ़ते हुए वास्तविक तरीके से, जब तक कि तुम मेरी उपस्थिति में न आ जाओ।

२. जाग्रत और सुषुप्त अवस्था के बीच एक तरह का पुल स्थापित करो ताकि जब तुम जागो तो तुम्हें याद रहे कि क्या हुआ था।

हो सकता है कि तुम तुरन्त सफलता पा जाओ, लेकिन बहुधा इसमें समय लगता है, तुम्हें अपने प्रयास में आग्रहशील रहना चाहिये।

२५ सितम्बर १९५९

मधुर माँ,

अन्तरात्मा की क्या भूमिका है?

अन्तरात्मा के बिना तो हमारा अस्तित्व ही न होगा!

अन्तरात्मा वह है जो कभी भी भगवान् को छोड़े बिना उनसे आती है और अभिव्यक्त होना बन्द किये बिना उनके पास लौट जाती है।

अन्तरात्मा भगवान् है जिसे भगवान् होना छोड़े बिना व्यक्ति बनाया गया है।

अन्तरात्मा में व्यक्ति और भगवान् शाश्वत रूप से एक हैं; अतः, अपनी अन्तरात्मा को पाने का अर्थ है भगवान् को पाना, अपनी अन्तरात्मा के साथ तादात्म्य पाने का अर्थ है भगवान् के साथ एक होना।

अतः, यह कहा जा सकता है कि अन्तरात्मा का कार्य है मनुष्य को एक सच्ची सत्ता बनाना।

२९ सितम्बर १९५९

मधुर माँ,

क्या सौभाग्य और दुर्भाग्य जैसी कोई चीज़ होती है या यह कोई ऐसी चीज़ है जिसे मनुष्य अपने लिए अपने-आप बना लेता है?

सचमुच ऐसी कोई चीज़ नहीं है जिसे भाग्य कहा जा सके। मनुष्य जिसे भाग्य कहते हैं वह ऐसे कारणों के परिणाम होते हैं जिनके बारे में मनुष्य कुछ नहीं जानता।

और न ही कोई ऐसी चीज़ है जो अपने-आपमें सौभाग्य या दुर्भाग्य हो। हर एक परिस्थिति को हम अच्छा या बुरा इस दृष्टि से कहते हैं कि वह हमारे लिए कम या ज़्यादा हितकर है और यह अनुमान बहुत उथला और अज्ञानभरा होता है, क्योंकि सचमुच हमारे लिए क्या हितकर है और क्या अहितकर यह जानने के लिए हमें महान् सन्त होना चाहिये।

और फिर, एक ही घटना एक व्यक्ति के लिए बहुत अच्छी और दूसरे के लिए बहुत खराब हो सकती है। ये अनुमान पूरी तरह से वैयक्तिक होते हैं और बाहर से आने वाले सम्पर्क के प्रति प्रत्येक की प्रतिक्रिया पर निर्भर होते हैं।

और अन्त में, हमारे जीवन की परिस्थितियाँ, हम जिस पास-पड़ोस में रहते हैं और लोग हमें जिस तरह देखते हैं, यह सब सचमुच अपने भीतर और बाहर हम जो कुछ हैं उसकी अभिव्यक्ति, उसका विषयगत प्रक्षेपण है। इसलिए हम विश्वास के साथ कह सकते हैं कि हम जिसे अपनी सत्ता की सभी स्थितियों में, मानसिक, प्राणिक और भौतिक में लिये रहते हैं वही, हमारे जीवन का निर्माण करता है और हमारे इर्द-गिर्द जो है उसमें इन्द्रियगोचर होता है।

और इसकी आसानी से जाँच की जा सकती है, क्योंकि जिस अनुपात में हम अपने-आपको उन्नत करते और पूर्णता की ओर प्रगति करते हैं वैसे-वैसे हमारी परिस्थितियाँ भी

सुधरती जाती हैं।

इसी तरह उन लोगों के लिए जो भ्रष्ट या अधःपतित होते हैं, उनके जीवन की परिस्थितियाँ भी बिगड़ जाती हैं।

५ अक्तूबर १९५९

मधुर माँ,

आप जब सवेरे के समय छज्जे पर आती हैं तो हमें क्या देती हैं<sup>१</sup>, और आप जो कुछ देती हैं उसे पाने के लिए हमें क्या करने की कोशिश करनी चाहिये?

हर सुबह छज्जे पर, वहाँ जो लोग उपस्थित हों उनमें प्रत्येक के साथ एक सचेतन सम्पर्क साध कर मैं अपने-आपको परम प्रभु के साथ तदात्म कर देती हूँ और उनके अन्दर पूरी तरह घुल-मिल जाती हूँ। तब मेरा शरीर एकदम निश्चेष्ट होता है और एक ऐसी वाहिनी के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता जिसमें से प्रभु अपनी शक्तियाँ मुक्त रूप से भेजते हैं और अपनी सम्पूर्ण ज्योति, अपनी सम्पूर्ण चेतना, अपना सम्पूर्ण आनन्द हर एक पर उसकी ग्रहणशक्ति के अनुसार उँडेलते हैं।

प्रभु जो देते हैं उसे ग्रहण करने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि छज्जे के दर्शन के समय विश्वास और अभीप्सा के साथ आओ और अपने-आपको **नीरव, निश्चल, प्रत्याशा की स्थिति** में जितना हो सके उतना स्थिर और अचञ्चल रखो। अगर तुम्हें कोई विशेष चीज़ माँगनी है तो ज़्यादा अच्छा है कि जब मैं वहाँ रहूँ तब नहीं उससे पहले माँग लो क्योंकि कोई भी क्रिया ग्रहणशीलता को कम कर देती है।

१२ अक्तूबर १९५९

मधुर माँ,

“भौतिक चेतना की नीरवता” (‘दिव्य जीवन’ से) का क्या मतलब है और हम इस नीरवता में कैसे रह सकते हैं?

भौतिक चेतना केवल हमारे शरीर की ही नहीं बल्कि जो कुछ हमारे इर्द-गिर्द है उस सबकी, अर्थात् हम अपनी इन्द्रियों द्वारा जिस किसी का बोध पाते हैं उस सबकी चेतना है। वह अभिलेखन और सञ्चार का एक तरह का यन्त्र है जो बाहर से आने वाले सभी सम्पर्कों और आघातों की ओर खुला रहता है और सुख या दुःख की उन प्रतिक्रियाओं द्वारा उनको प्रत्युत्तर देता है

<sup>१</sup> उन दिनों माताजी सवेरे कुछ क्षणों के लिए अपने छज्जे पर आकर खड़ी रहती थीं और वहाँ से नीचे सड़क पर खड़े हुए लोगों को देखा करती थीं। आश्रम की भाषा में इसे ‘बालकनी-दर्शन’ कहा जाता था।

जो उनका स्वागत करती या उन्हें ठेल देती हैं। यह हमारी बाहरी सत्ता में सतत क्रियाशीलता और शोर पैदा करता है जिससे हम बहुत अधिक अभ्यस्त होने के कारण केवल आंशिक रूप से अभिज्ञ हैं।

लेकिन अगर ध्यान या एकाग्रता के द्वारा हम अन्दर या ऊपर की ओर मुड़ते हैं तो अपने अन्दर अचञ्चलता, स्थिरता, शान्ति और अन्त में निश्चल-नीरवता को ऊपर से उतार सकते या नीचे गहराइयों में से उठा सकते हैं। यह एक ठोस, सकारात्मक नीरवता है (शोर के अभाव की नकारात्मक नीरवता नहीं), जब तक वह रहे अविकार्य रहती है, यह एक ऐसी नीरवता होती है जिसका अनुभव हम तूफान या युद्धक्षेत्र के शोर-शराबे में भी कर सकते हैं। यह नीरवता शान्ति का पर्याय है और सर्वशक्तिमान् है; यह उस क्लान्ति, तनाव और श्रान्ति का पूर्णतया प्रभावकारी इलाज है जो उस आन्तरिक अति-क्रियाशीलता तथा शोर से उभरते हैं जो साधारणतः हमारे अधिकार से बाहर हो जाते हैं और न दिन को और न रात को बन्द होते हैं।

इसलिए जब तुम योग करना चाहो तो सबसे ज़रूरी और पहली चीज़ यह है कि अपने अन्दर अचञ्चलता, शान्ति और निश्चल-नीरवता को उतारो और प्रतिष्ठित करो।

१५ अक्तूबर १९५९

मधुर माँ,

हम किसी और के संगीत की रचना की भावनाओं में कैसे प्रवेश कर सकते हैं?

उसी तरह जैसे हम औरों की भावनाओं में हिस्सा लेते हैं—सहानुभूति द्वारा, सहज रूप से, न्यूनाधिक रूप से गभीर सादृश्य द्वारा या फिर एकाग्रता के ऐसे प्रयास द्वारा जिसका अन्त तादात्म्य में होता है। जब हम किसी संगीत को तीव्र तथा दत्तचित्त एकाग्रता से सुनते हैं तो इस अन्त में बतलाये गये तरीके का उपयोग करते हैं, यहाँ तक कि सिर में और सब आवाज़ें बन्द करके पूर्ण नीरवता प्राप्त करते हैं, जिसमें बूँद-बूँद करके संगीत के स्वर टपकते हैं और जहाँ केवल संगीत की ध्वनि रह जाती है; और उस ध्वनि के साथ-ही-साथ सभी भावनाएँ, भावों की सभी गतिविधियाँ पकड़ में आ सकती, अनुभव की जा सकती और फिर से इस तरह महसूस की जा सकती हैं मानों वे हमारे अन्दर ही पैदा हो रही हों।

२० अक्तूबर १९५९

मधुर माँ,

हम स्वप्न में अच्छे और बुरे में कैसे फ़र्क कर सकते हैं?

सिद्धान्त रूप में, नींद के क्रिया-कलाप का मूल्यांकन करने के लिए हमें उसी तरह की विवेक-शक्ति की ज़रूरत होती है जैसी जाग्रत् क्रिया-कलाप को परखने के लिए।

लेकिन चूँकि हम सामान्यतः ऐसी बहुत-सी क्रियाओं को “स्वप्न” का नाम दे देते हैं जो एक-दूसरे से बहुत भिन्न होती हैं इसलिए जो चीज़ सबसे पहले सीखनी चाहिये वह है विभिन्न प्रकार की क्रियाओं में भेद कर सकना, यानी यह जानना कि सत्ता का कौन-सा भाग “स्वप्न” देख रहा है, हम किस क्षेत्र में “स्वप्न देख रहे हैं” और उस क्रिया की क्या प्रकृति है। श्रीअरविन्द ने अपने पत्रों में नींद की सभी क्रियाओं का पूरा-पूरा और विस्तृत वर्णन और स्पष्टीकरण दिया है। इस विषय का अध्ययन करने और उसका व्यावहारिक उपयोग करने के लिए इन पत्रों को पढ़ना एक अच्छा परिचय-पत्र है।

२ नवम्बर १९५९

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड १६, पृ. २५३-६४

## मानवजाति के लिए उपयोगिता

मानवजाति के लिए उपयोगिता का विचार पश्चिम से लाये गये पुराने विचारों के कारण आया हुआ घपला है। स्पष्ट रूप से, मानवता के लिए “उपयोगी” बनने के लिए योग की आवश्यकता नहीं है; हर एक जो मानव जीवन बिताता है, किसी-न-किसी तरीके से मानवजाति के लिए उपयोगी होता है।

योग भगवान् की ओर अभिमुख होता है, मनुष्य की ओर नहीं। अगर भागवत अतिमानसिक चेतना तथा शक्ति नीचे उतारी जा सकें और जड़-भौतिक जगत् में प्रतिष्ठित की जा सकें तो निश्चित रूप से उसका अर्थ होगा पृथ्वी के लिए एक महान् परिवर्तन और उसमें मानवजाति तथा उसका जीवन भी सम्मिलित होगा। लेकिन मानवजाति पर प्रभाव परिवर्तन का मात्र एक परिणाम होगा; वह साधना का उद्देश्य नहीं हो सकता। साधना का उद्देश्य केवल भागवत चेतना में रहना और उसे जीवन में अभिव्यक्त करना ही हो सकता है।

\*

रही बात विवेकानन्द के इस उद्धरण की वहाँ में<sup>१</sup> जिस बात को महत्त्व देता हूँ वह मुझे

<sup>१</sup> योग-समन्वय में श्रीअरविन्द लिखते हैं: बहुधा हम वैयक्तिक मुक्ति की इस कामना के ऊपर किसी दूसरे आकर्षण को हावी होते देखते हैं, लेकिन वह आकर्षण भी हमारी प्रकृति के उच्चतर मोड़ को ही दर्शाता है और वही सचमुच वह तात्त्विक लक्षण है जिसके मार्गदर्शन में मुक्त आत्मा को आगे बढ़ना चाहिये... यह चीज़ विवेकानन्द द्वारा लिखे एक पत्र के इस उद्धरण को प्रेरणा देती है—“मैंने अपनी मुक्ति के लिए सारी इच्छा त्याग दी, मैं बार-बार जन्म लूँ और हज़ारों दुःख-दर्द सहूँ ताकि मैं उस एकमात्र भगवान् की पूजा कर सकूँ जिसका अस्तित्व है, एकमात्र भगवान् पर मुझे विश्वास है जो सभी अन्तरात्माओं का कुल योग है—और सबसे बढ़ कर, मेरे भगवान् जो दुष्ट हैं, मेरे भगवान् जो दरिद्र हैं, मेरे भगवान् जो सभी जातियों के, सभी वर्गों के गरीब हैं, मेरी पूजा के विशेष पात्र हैं। वह जो उच्च और निम्न, साधु और पापी, ईश्वर और कीट है, उसकी पूजा करो, दृश्य, ज्ञेय, वास्तविक सर्वव्यापी की पूजा करो, अन्य सभी मूर्तियों को तोड़ दो। जिसमें न अतीत का जीवन है न भावी जन्म है, न मृत्यु है, न आना है न जाना है, जिसमें हम हमेशा एक से रहे हैं



लोकोपकारी नहीं लगती। तुम देखोगे कि मैं वहाँ विवेकानन्द के उद्धृत पृष्ठ के अन्तिम वाक्यों पर ज़ोर देता हूँ, भगवान् के बारे में दरिद्र, पापी और अपराधी शब्दों पर नहीं, वहाँ ज़ोर है विश्व में उपस्थित भगवान् पर, सर्व, 'गीता' के सर्व-भूतानि पर। यह मात्र मानवता नहीं है, उससे भी कम, केवल दरिद्र या दुष्ट नहीं है, निश्चित रूप से धनी और अच्छे भी "सर्व" के अंग हैं और वे भी जो न भले हैं न बुरे, न अमीर हैं न गरीब। न ही वहाँ लोकोपकारी सेवा का कोई प्रश्न है (मेरा मतलब अपनी टिप्पणी से है) अतः, दरिद्र-सेवा का भी प्रश्न नहीं है। पहले मेरा दृष्टिकोण लोकोपकारी नहीं बल्कि मानवतावादी था—और हो सकता है कि इसका कुछ भाग 'आर्य' में मेरी अभिव्यक्तियों के साथ जुड़ गया हो। लेकिन मैंने अपना दृष्टिकोण बदल दिया है और "हमारा योग मानवता के लिए है" के स्थान पर "हमारा योग भगवान् के लिए है" कर दिया है। भगवान् में न केवल विश्वातीत बल्कि वैश्व और व्यक्ति भी आ जाते हैं—न केवल निर्वाण या उससे परे बल्कि जीवन और सर्व भी आ जाते हैं। मैं इसी पर सर्वत्र ज़ोर देता हूँ।

\*

आज पत्रों का कञ्चनजंघा मुझ पर टूट पड़ा, अतः मैं मानवजाति तथा उसकी प्रगति के बारे में नहीं लिख पाया। क्या लोएस डिकिंसन के बाद के दृष्टिकोण विकल आदर्शवाद के रुग्ण धुँधलेपन से रंगे हुए नहीं हैं? स्वयं मेरे अन्दर मानवता तथा वह जैसी है उसके लिए कोई अतिशय सम्मान नहीं है, लेकिन यह कहना कि ज़रा भी प्रगति नहीं हुई है उतना ही अधिक अतिशयोक्तिपूर्ण निराशावाद है जितना कि प्रगतिशील मानवजाति के लिए उन्नीसवीं शताब्दी का हर्षोन्मत्त या आफ़रीनियों अतिशयोक्तिपूर्ण आशावाद थी।

मैं तुम्हारे भेजे अध्याय को पढ़ने का समय निकाल लूँगा, यद्यपि मैं इन चीज़ों को पढ़ने का समय कैसे निकाल पाता हूँ यह एक स्थायी चमत्कार है और किसी भागवत कृपा का असाधारण प्रमाण है।

हाँ, तुम जो "प्रगति" कर रहे हो वह सच्चे प्रकार की है—लक्षण सुस्पष्ट हैं। और अन्ततोगत्वा मानवजाति से प्रगति करवाने का सबसे अच्छा तरीका है अपने-आप आगे बढ़ते रहना—यह बात व्यष्टिनिष्ठ या अहंवादी प्रतीत हो सकती है, लेकिन ऐसा है नहीं; यह केवल सामान्य बुद्धि की बात है जैसा कि 'गीता' में कहा गया है :

*'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनाः'*

श्रेष्ठ लोग जैसा आचरण करते हैं, दूसरे उसी का अनुसरण करते हैं।

\*

इन संवेदनाओं को आश्रय देने का कोई अर्थ नहीं है। तुम्हें कटु हुए बिना यह देखना चाहिये कि संसार कैसा है; क्योंकि कटुता स्वयं अपने अहं तथा उसके विकल मनोरथों से आती और हमेशा एक रहेंगे, उसकी पूजा करो; अन्य सभी मूर्तियों को तोड़ दो।"

है। अगर तुम भागवत विजय चाहते हो तो पहले तुम्हें उसे अपने अन्दर प्राप्त करना होगा।

\*

क्रिया पर ऐसा आग्रह करना मूर्खतापूर्ण है अगर तुम्हारे अन्दर वह प्रकाश नहीं है जिससे क्रिया की जाये। “योग को जीवन को निकालना नहीं अपनाना होगा” इसका यह अर्थ नहीं है कि हम जीवन को, जैसा कि वह है, यानी उसके अड़ंगा लगाने वाले समस्त अज्ञान और दुःख-दर्द तथा मानव-इच्छा, तर्क, आवेग और प्रवृत्ति के अन्धकारमय घपले के साथ—जिसे जीवन अभिव्यक्त करता है—उसे स्वीकार करने के लिए बाध्य हैं। क्रिया के अधिवक्ता सोचते हैं कि मानव-बुद्धि तथा ऊर्जा के हमेशा नये वेग से सब कुछ ठीक हो सकता है; बुद्धि के विकास तथा उस ऊर्जा के विस्मयकारी निर्गम के बाद जिसका कोई ऐतिहासिक जोड़ नहीं है, विश्व की वर्तमान अवस्था उस भ्रम के खोखलेपन का उल्लेखनीय प्रमाण है जिसके नीचे वे श्रम कर रहे हैं। योग का आधार यह है कि मात्र चेतना के परिवर्तन से जीवन के सच्चे आधार को प्राप्त किया जा सकता है, सच्चा शासन है अन्दर से बाहर का शासन। लेकिन अन्दर से शासन का मतलब यह नहीं है कि सतह से चौथाई इंच पीछे। तुम्हें गहराई में जाना होगा और अपने अन्दर स्थित अन्तरात्मा, स्व तथा भागवत वास्तविकता को पाना होगा, केवल तभी हमारा जीवन हम जो अन्धे तथा स्वयं को हमेशा अपने-आपको दोहराते रहने वाले अस्तव्यस्त धुंधलेपन की अयोग्य तथा अपूर्ण वस्तु थे, उसके स्थान पर हम जो हो सकते हैं, उसकी सच्ची अभिव्यक्ति बन सकता है। चुनाव है इन दो चीज़ों के बीच, या तो हम पुरानी अस्तव्यस्तता में बने रहें और किसी खोज के हाथ लगने की आशा में टटोलते रहें या फिर पीछे हट कर तब तक परम प्रकाश को खोजें जब तक हम उसे पा न लें और अपने अन्दर और अपने बाहर देवत्व का निर्माण न कर लें।

CWSA खण्ड २८, पृ. ४४१-४४

श्रीअरविन्द

## अभ्यास

मधुर माँ! क्या हमें प्रश्न पूछने का अधिकार है, यदि हम आपकी कही बात के अनुसार अभ्यास न करें तो?

तुम्हें सर्वदा कुछ भी करने का अधिकार है! (हँसी) तुम जो भी प्रश्न पूछना चाहते हो पूछ सकते हो। परन्तु अभ्यास? मूलतः, यह प्रत्येक व्यक्ति का अपना चुनाव होता है, ठीक है न? —वह अभ्यास करना चाहता है या नहीं, वह इसे उपयोगी समझता है या नहीं। यह एक ऐसी चीज़ है जो लादी नहीं जा सकती; उसे स्वेच्छापूर्वक करना होगा। परन्तु मनुष्य सर्वदा प्रश्न तो पूछ ही सकता है।

खैर, मैं एक प्रश्न पूछ रही हूँ: “लोग अभ्यास क्यों नहीं करते?” तुम जानते हो, मेरे बच्चे, वे क्यों अभ्यास नहीं करते? (माताजी बारी-बारी से दूसरों से पूछती हैं) और तुम? और तुम?... वाह! तुम जानते हो, तुम?

शायद इस कारण कि मनुष्य आलसी है!

यह निश्चय ही एक प्रधान कारण है। और इसलिए मनुष्य सुन्दर-सुन्दर कारणों से अपने आलस्य को छिपाता है; पहला कारण यह है जो कहता है: “मैं नहीं कर सकता, मैं नहीं जानता” या फिर: “मैंने कोशिश की है और सफल नहीं हुआ” या फिर: “मैं नहीं जानता कि कहाँ से आरम्भ करूँ!” कोई भी कारण, ठीक है न? यह है सबसे पहला जो तुम्हारे पास आता है। अथवा, सचमुच, मनुष्य इस कारण अभ्यास नहीं करता कि वह उसे प्रयत्न करने के योग्य नहीं समझता—यह भी आलस्य का अंग है, वह अत्यधिक प्रयास की माँग करता है! परन्तु मनुष्य प्रयास के बिना रह भी नहीं सकता! यदि वह कोई प्रयास करना अस्वीकार कर दे तो वह अपने पैरों पर खड़ा होने या चलने या यहाँ तक कि खाने में भी समर्थ नहीं होगा।

मैं समझती हूँ कि मनुष्य सबसे पहले इस कारण अभ्यास नहीं करता कि उसमें इतनी पर्याप्त ठोस सत्यता नहीं होती कि वह जीवन की अन्य वस्तुओं पर अधिकार कर सके; कारण, प्रयास अपने परिणाम की तुलना में असंगत प्रतीत होता है। परन्तु इस प्रकार का प्रयास केवल एक प्रारम्भ होता है: एक बार जब मनुष्य अन्दर पैठ जाता है तब वही बात नहीं रह जाती।

(उस बच्चे की ओर मुड़ कर) तो, अपना प्रश्न पूछो, यदि तुम अभ्यास नहीं भी करते!  
१२ सितम्बर १९५६

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ८, पृ. ३५५-५६

## सात सूत्र<sup>१</sup>

भगवान् सर्वोच्च मसीहा हैं। वे सदा अशुभ करते रहते हैं जिससे उसमें से शुभ प्रकट हो सके; भ्रान्ति में डालते रहते हैं जिससे अधिक अच्छा पथ-प्रदर्शन प्राप्त हो सके; हमारी संकल्प-शक्ति को कुचलते रहते हैं जिससे अन्त में उसे असीम स्वतन्त्रता प्राप्त हो सके।

भगवान् के लिए हमारा अशुभ अशुभ नहीं, वरन् अज्ञान और अपूर्णता है, और हमारा शुभ एक छोटी अपूर्णता है।

धर्म का अनुयायी जब कहता है कि हमारा सबसे बड़ा और पवित्र गुण भी भगवान् की दिव्यता के सामने दुष्टता है, तो वह सच कह रहा होता है पर अत्यधिक उग्र रूप से।

शुभ और अशुभ से परे होने का अर्थ उदासीन भाव में पाप या पुण्य करना नहीं है बल्कि एक उच्च और व्यापक शुभ को प्राप्त करना है।

वह शुभ हमारा नैतिक गुण नहीं है जो इस पृथ्वी पर एक सापेक्ष और भ्रान्ति पैदा करने वाला प्रकाश है; बल्कि वह अति-नैतिक और दिव्य है।

\*

मैं जानता हूँ कि जो कुछ मैं कहता हूँ उसका विरोधी तत्त्व सत्य है, किन्तु इस समय जो मैं कह रहा हूँ वह अभी भी अधिक सत्य है।

मेरे मित्रो, तुम्हारी तरह मैं भी यह विश्वास करता हूँ कि यदि भगवान् का अस्तित्व है तो वे एक दैत्य हैं अथवा दानव हैं। किन्तु आखिरकार तुम इस विषय में क्या कर सकते हो? CWSA खण्ड १२, पृ. ५००

श्रीअरविन्द

<sup>१</sup> ये सात सूत्र हमें श्रीअरविन्द के अप्रकाशित लेखों से बहुत पहले प्राप्त हुए थे। चूँकि इन्हें माताजी नहीं देख पायी थीं, इन पर उनकी टिप्पणियाँ भी नहीं हो सकीं; अतः, ये मूल ५४० सूत्रों के संग्रह में से नहीं हैं।

## नारी और युद्ध

आपने पूछा है कि मैं नारी-आन्दोलन के बारे में क्या सोचती हूँ और उस पर वर्तमान युद्ध का क्या प्रभाव होगा।

युद्ध का सबसे पहला प्रभाव निश्चय ही यह हुआ है कि उसने इस प्रश्न को एक नया ही पहलू दे दिया। स्त्री-पुरुष के सतत विरोध की निरर्थकता एकदम स्पष्ट रूप से प्रकट हो गयी और केवल बाहरी तथ्यों से सम्बन्धित नर-नारी के संघर्ष के पीछे परिस्थितियों की गम्भीरता ने सतत विद्यमान—यद्यपि हमेशा तथ्य के रूप में प्रकट नहीं—वास्तविक सहयोग की, मानवजाति के इन दो परस्पर पूरक अंगों के सच्चे सहयोग की खोज को सम्भव बनाया।

बहुत-से पुरुषों को यह देख कर आश्चर्य हुआ कि स्त्रियाँ कितनी आसानी से उनके अधिकतर पदों पर उनका स्थान ले सकती हैं। उनके आश्चर्य के साथ कुछ खेद भी मिला हुआ था कि वे अपने काम और संघर्ष में साथ देने वाली को पहले न पहचान पाये, उसे वे अधिकतर केवल भोग और मनबहलाव की चीज़ या बहुत हुआ तो उनके घर-द्वार की देख-भाल करने वाली और उनके बच्चों की माँ ही मानते रहे। निश्चय ही, स्त्री यह सब भी है और यह होने के लिए उसमें बहुत विशेष, अपवादिक गुण चाहियें; लेकिन वह केवल यही नहीं है—आज की परिस्थितियों ने यह बात स्पष्ट रूप से प्रमाणित कर दी है।

कठिन-से-कठिन भौतिक परिस्थितियों में, वास्तव में दुश्मन की गोलियों की बौछार के बीच, घायलों की सेवा करने के लिए जाकर अबला कहाने वाली ने यह प्रमाणित कर दिया है कि उसकी शारीरिक ऊर्जा और सहनशक्ति पुरुष के बराबर हैं। लेकिन जहाँ नारियों ने सबसे बढ़ कर विशिष्ट प्रतिभा दिखलायी है, वह है संगठन करने की क्षमता में। मुसलमानों के विजयी होने से पहले, ब्राह्मण-भारत ने बहुत पहले से ही स्त्रियों की शासन-क्षमता को मान्यता दी थी। एक प्रचलित कहावत के अनुसार : “जिस सम्पत्ति का शासन नारी के हाथ में होता है वह समृद्ध रहती है।” परन्तु पश्चिम में, रोमन कानून के साथ मिल कर सेमेटिक विचार ने रीति-रिवाजों पर इतना गहरा प्रभाव डाला कि नारी को अपनी संगठन-शक्ति दिखाने का अवसर ही न मिला।

यह सच है कि फ्रांस में बहुत बार यह दिखायी देता है कि नारी ही घर की सारी व्यवस्था की, आर्थिक व्यवस्था की भी स्वामिनी होती है। मध्यम-वर्ग की खुशहाली इस व्यवस्था के अच्छे पक्ष को सिद्ध करती है। फिर भी यह विरल ही रहा है कि बहुत महत्त्वपूर्ण कारोबार आदि की व्यवस्था में नारी की क्षमता का सीधा उपयोग हुआ हो और अभी तक सार्वजनिक प्रशासन के विश्वस्त या गोपनीय पद स्त्रियों के लिए हमेशा बन्द ही रहे थे। इस युद्ध ने यह सिद्ध कर दिया है कि नारी के सहयोग को अस्वीकार करके सरकारों ने अपने-आपको अमूल्य सहायता से वञ्चित रखा है। उदाहरण के लिए मैं एक घटना सुनाती हूँ।

युद्ध शुरू होने के कुछ महीने बाद, जब जर्मनी ने लगभग सारे बेल्जियम पर अधिकार

कर लिया था, अधिकृत प्रदेशों के वासी बहुत ही बुरी हालत में थे। सौभाग्यवश, कई धनाढ्य अमरीकन स्त्री-पुरुषों के नेतृत्व में इन अत्यधिक पीड़ित लोगों की अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए एक संस्था का सूत्रपात हुआ। कुछ सामरिक कार्रवाइयों के कारण बहुत-से छोटे-छोटे गाँवों के समूह अचानक खाली-पदार्थों से वञ्चित कर दिये गये। अकाल सिर पर था। अमरीकन संस्था ने इसी प्रकार की अंगरेज़ी संस्थाओं को यह सन्देश भेजा : “एकदम अनिवार्य वस्तुओं की पाँच लॉरियाँ तुरन्त भेज दें। इन लॉरियों को अपने लक्ष्य तक तीन दिन में पहुँच जाना चाहिये।” जिन पुरुषों के सामने यह निवेदन रखा गया उन्होंने उत्तर दिया कि इसके अनुसार करना बिलकुल असम्भव है। सौभाग्यवश, एक स्त्री ने यह बात सुन ली। उसे यह बात बहुत ही भयावह लगी कि ऐसी दुःखद परिस्थितियों में कोई “असम्भव” शब्द का प्रयोग कर सकता है। वह स्त्रियों के एक दल की सदस्या थी। वह दल घायलों और युद्ध-पीड़ितों की सहायता करता था। उन्होंने तुरन्त अमेरीकन संस्था को वचन दे दिया कि वे उनकी माँग को पूरा कर देंगी और तीन ही दिनों में बहुत-सी बाधाओं को पार कर लिया गया। उनमें कुछ, विशेषकर यातायात-सम्बन्धी कठिनाइयाँ, सचमुच अलंघ्य मालूम होती थीं। संगठन-शक्तिवाले समर्थ मन और तीव्र संकल्प ने चमत्कार कर दिखाया और चीज़ें तीन दिनों में ठिकाने पर जा पहुँचीं और भयंकर अकाल टल गया।

हमारा यह मतलब नहीं है कि वर्तमान युद्ध ने केवल स्त्री के विशेष गुणों को ही प्रकट किया है। उसकी दुर्बलताओं, उसके दोषों, उसकी तुच्छताओं को भी सामने आने का अवसर मिला है, और अगर स्त्रियाँ देशों और जातियों के प्रशासन में वह स्थान पाना चाहती हैं जिस पर उनका दावा है तो उन्हें आत्म-संयम, विचारों और दृष्टिकोण के विस्तार, बौद्धिक नमनीयता और अपनी भावुकतापूर्ण पसन्दों की विस्मृति में बहुत आगे बढ़ना होगा ताकि वे सार्वजनिक कार्यों की व्यवस्था कर सकें।

यह निश्चित है कि निरी पुरुषों की राजनीति अपनी अक्षमता का प्रमाण दे चुकी है। वे बहुत बार एकदम व्यक्तिगत और अपनी मनमानी उग्र क्रियाओं की खोज में डूब चुके हैं। निस्सन्देह, स्त्रियों की राजनीति निःस्वार्थता की प्रवृत्ति और अधिक जनसेवी समाधान लायेगी। परन्तु, दुर्भाग्यवश, अपनी वर्तमान अवस्था में साधारणतः स्त्रियाँ आवेगों और उत्साहपूर्ण पक्षपात की कठपुतलियाँ हैं। उनमें उस तर्कसंगत स्थिरता का अभाव है जो बौद्धिक क्रिया से ही आती है। बौद्धिक क्रियाएँ खतरनाक अवश्य हैं क्योंकि वे कठोर, शीत और निष्करुण होती हैं, फिर भी वे निश्चित रूप से उस भावुकता के उफान को वश में रखने के लिए उपयोगी हैं जिसे सामूहिक हितों के शासन में प्रधान स्थान नहीं दिया जा सकता।

अगर स्त्रियों की क्रियावली पुरुषों के कर्मों का स्थान लेना चाहे तो ये दोष बहुत गम्भीर रूप ले सकते हैं। परन्तु इसके विपरीत, यदि नर-नारी में सहयोग हो तो ये पुरुषों के दोषों की एक हद तक क्षतिपूर्ति कर सकते हैं। और यही धीरे-धीरे दोनों को पारस्परिक पूर्णता की ओर ले जाने का सबसे अच्छा उपाय होगा। नारी का कार्य पूरी तरह अन्दर, घरेलू कामों तक

सीमित रखना और पुरुष को पूरी तरह बाहर के और सामाजिक कार्यों में लगाये रखना और इस प्रकार जिन्हें इकट्ठा होना चाहिये उन्हें अलग करना तो वर्तमान दुःखद स्थिति को हमेशा के लिए स्थायी कर देना होगा; इससे दोनों को समान रूप से कष्ट हो रहा है। ऊँचे-से-ऊँचे कर्तव्यों और भारी-से-भारी ज़िम्मेदारियों के आगे उनके अपने-अपने पृथक् गुणों को घनिष्ठ और विश्वासपूर्ण एकता में मिल जाना चाहिये।

क्या वह समय नहीं आ गया है जब नर और नारी को एक-दूसरे के सामने परस्पर विरोधियों के रूप में संघर्ष का मनोभाव रखना बन्द कर देना चाहिये? राष्ट्रों को कठोर और पीड़ाजनक पाठ पढ़ाया जा रहा है। इस समय खण्डहरों के जो ढेर लग रहे हैं उन पर नयी, ज़्यादा सुन्दर, ज़्यादा सामञ्जस्यपूर्ण इमारतें खड़ी की जा सकती हैं। अब यह दुर्बल प्रतियोगिताओं और स्वार्थपूर्ण अधिकारों की माँग का समय नहीं रहा। सभी मनुष्यों को, स्त्री-पुरुषों को उस उच्चतम आदर्श के बारे में सचेतन होने के साझे प्रयास में सहयोग देना चाहिये जो चरितार्थ होना चाहता है और सबको उसे उपलब्ध करने के लिए बड़े उत्साह के साथ काम करना चाहिये। तो अब जिस प्रश्न को हल करना है, सच्चा प्रश्न केवल उनके बाहरी क्रिया-कलाप के अधिक अच्छे उपयोग का नहीं है, बल्कि सबसे बढ़ कर, आन्तरिक आध्यात्मिक विकास का प्रश्न है। आन्तरिक विकास के बिना बाहरी प्रगति सम्भव नहीं है।

इस तरह, संसार-भर की सभी समस्याओं की तरह, नारीवाद का प्रश्न भी एक आध्यात्मिक समस्या बन कर लौट आता है, क्योंकि आध्यात्मिक सत्य अन्य सबका आधार है। भागवत जगत्, बौद्ध धर्म की धम्मता, वह शाश्वत आधार है जिस पर अन्य सब जगत् की रचना हुई है। इस 'परम सद्बस्तु' की दृष्टि में सभी, पुरुष-स्त्रियाँ सभी, समान हैं, सभी अधिकारों और कर्तव्यों की दृष्टि से समान हैं। इस क्षेत्र में जो भेद रह सकता है वह सच्चाई और अभीप्सा की तीव्रता और संकल्प की निरन्तरता के आधार पर होता है। और नर-नारी के सम्बन्ध की समस्या का एकमात्र गम्भीर और चिरस्थायी समाधान इस मौलिक, आध्यात्मिक एकता को जानने और स्वीकारने में है। समस्या को इस प्रकाश में रखना चाहिये, हमारी क्रियाओं का और नव-जीवन का केन्द्र इस ऊँचाई पर खोजा जाना चाहिये, दिव्य मानवता का भावी मन्दिर इसी के चारों ओर बनेगा।

७ जुलाई, १९१६

'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. १६३-६६

## श्रीअरविन्द के उत्तर

(८०)

चलिये, मान लिया जाये कि माँ प्रणाम के समय कमल देने में पक्षपात नहीं कर रही थीं, लेकिन साधकों के साथ मिलने में पक्षपात के बारे में आप क्या कहेंगे? हर साल 'ड' १४४ बार उनसे बातचीत करने, यानी साक्षात्कार करने जाता है, 'र' भी उतनी ही बार, 'स' और उसका दल माँ से ४८ या उससे अधिक बार मिलते हैं, 'व' के जैसे लोग २४ से अधिक बार, 'च' और कई दूसरों की बात तो छोड़ ही दीजिये जो साल में ३६५ या उससे भी अधिक बार उनके पास जाया करते हैं, जब कि अधिकतर लोगों को साल में २ दफ़ा मिलना भी मुश्किल से नसीब होता है। अगर मैं रोज़ के ३-४ साक्षात्कार गिन लूँ तो साल में संख्या हो जायेगी करीब १,२००! अगर आप प्रत्येक साधक से साल में ३ बार मिलें तो वह संख्या होगी ४५०, और इसके साथ ही 'ड', 'र' और 'ह' जैसे साधकों के लिए ७५० दिन अतिरिक्त भी होंगे! 'ड' या दूसरे साधकों के लिए दो और साक्षात्कार इतने अधिक मूल्यवान् नहीं होंगे, लेकिन अधिकतर जो साधक माँ से सिर्फ़ एक ही बार मिलते हैं, वे अगर उनके पास एक और बार जा सकें तो इससे उनको बहुत अधिक बढ़ावा मिलेगा, और महीनों तक वे प्रसन्नचित्त रहेंगे। यह करीब-करीब भारत के उच्च पदाधिकारियों के वेतन जैसा हो जायेगा। वहाँ वायसरॉय को सम्भवतः २२,३३३ रुपये मिलते हैं और यहाँ 'ड' और 'र' को माँ १४४ बार साक्षात्कार के लिए बुलाती हैं, जब कि छोटे लोगों को बस एक ही रुपया मिलता है! यहाँ हम यह नहीं कह सकते कि भिन्नता दिखायी नहीं देती। क्या इस तरह की भिन्नताएँ सभी सरकारों में होती हैं?

यह कोई सरकार नहीं है और साक्षात्कार के लिए पैसे नहीं दिये जाते। अगर माँग और प्राप्ति की बात है, यानी, तुम माँगो और वे प्रदान करें, या अगर माँ के साथ साधक के साक्षात्कार को उसका हक या विशेषाधिकार माना जाये तो कोई भी साधक ३ हो या ३००—किसी भी संख्या से तुष्ट नहीं होगा। शिकायतों, विलापों और विद्रोहों का ताँता लगा ही रहेगा, जैसा कि चल रहा है। माँ को पक्षपात और अन्याय का दोषी ठहराने के लिए लोग जल्दी ही दूसरे कारण खोज निकालेंगे (जिन्हें साक्षात्कार के लिए माँ के पास सबसे अधिक जाने का सौभाग्य प्राप्त होता है, सामान्यतया वे ही सबसे ज़्यादा विद्रोह करते हैं, हाँ, अपवाद ज़रूर हैं)। आध्यात्मिक जीवन के साथ इस तरह व्यवहार करना मानों यह कोई "सरकार" हो, अदालत या विद्यालय हो (जहाँ



स्थान, अंक, पुरस्कार और सज़ा दी जाती हों) या कोई छात्रावास या फिर इन सबका मिश्रण हो या मानव-संस्थाएँ हों—ये सब चीज़ें ही इस आश्रम का विष बनी हुई हैं। क्या यह कोई ऐसी 'सरकार' है जहाँ माँ को प्रेसिडेंट का पद मिल गया है, अतः वे कुछ को विशेषाधिकार दे दें, कुछ के साथ भाईचारे का व्यवहार करें, किसी को धन-दौलत दें और लोकतान्त्रिक समानता या किसी भी सिद्धान्त के नाम पर अगर वे इस तरह करने लगें तो उनके पास अपने पद को छोड़ देने के अलावा और कोई चारा न बच रहेगा!

बहरहाल, माँ के साथ साक्षात्कार की संख्या का लोगों की नगण्यता या महानता के साथ कोई सरोकार नहीं—भले तुम कितना भी हिसाब-किताब क्यों न लगा लो। आध्यात्मिक दृष्टि से ऐसे बड़े लोग हैं जिन्हें माँ के साथ साक्षात्कार का मौक़ा ही नहीं मिलता और आध्यात्मिक दृष्टि से ऐसे छोटे लोग हैं जिन्हें उनके पास जाने के अवसर मिलते रहते हैं। यही समान तथ्य हर प्रकार की महानता अथवा नगण्यता पर सटीक बैठता है।

एकमात्र स्थान जहाँ सन्तोषजनक समानता को व्यवहार में लाया जा सकता है—मनुष्य के मन और प्राण के लिए सन्तोषजनक—वह मेरे ख़याल से निर्वाण, या शून्यवादी जिसे निहिल कहते हैं, वह अवस्था होगी।

१० अप्रैल १९३५

*मैंने देखा कि फ्रेंच बोलने या लिखने की अपेक्षा पढ़ना ज़्यादा आसान है—बहुत बड़ा फ़र्क है। मैंने एक-दो नाटक पढ़े और प्रायः पूरा-पूरा समझ गया। मैंने कहानियाँ, भूगोल तथा दूसरी तकनीकी चीज़ें पढ़ीं और देखा कि वह सब मैं आसानी से समझ रहा था। लेकिन उसे भाषा में अभिव्यक्त करना बड़ा चुनौतीभरा काम था—पढ़ने और बोलने में ज़मीन-आसमान का फ़र्क है।*

पढ़ना हमेशा सबसे आसान होता है, हाँ, अगर तुम फ्रेंच लोगों के साथ रह रहे हो या निरन्तर उनके साथ फ्रेंच बोल रहे हो तो उसे सीखना सबसे आसान होगा। रही बात लिखने की, तो शुद्ध लिखना सामान्यतः बड़ा मुश्किल होता है, तो लिखने में ही तुम्हें सबसे ज़्यादा मेहनत करनी और तकलीफ़ उठानी होगी।

*सवरे जब 'अ' ने वह पुष्प चुना जिसका माँ ने आध्यात्मिक अर्थ अनासक्ति (जिसे अंग्रेज़ी में Railway Creeper के नाम से जाना जाता है) दिया है तो मैंने अपनी पत्नी को चिट्ठी लिखने की बात सोची। जब मेरे इतने सारे प्राणिक आदान-प्रदान हुए हैं और मैं कितनों ही के साथ ख़तरा मोल लेने के लिए उतारू रहता हूँ, जिस सबका कोई मतलब ही नहीं होता, तो भला मैं उसका बहिष्कार क्यों करूँ और दो साल बाद मेरे हाथ की लिखी चिट्ठी को पढ़ने से उसे क्यों वञ्चित रखूँ? इन चीज़ों में मेरा*

वैराग्य वैसे बेवकूफ़ी-भरा, बहुत कठोर और एकदम से अनुपातविहीन लगता है।

तुम उसे लिख सकते हो, लेकिन यह चीज़ उसके यहाँ आने की आशा को हवा देगी और यहाँ आने के लिए वह हठ इत्यादि करेगी।

मैं शान्ति के साथ अपना काम कर रहा था कि 'ज' ने मुझे बुला कर कहा, " 'स' फूट-फूट कर रो रही है, जाकर कुछ करो।" मैंने कहा, "मैं क्या कर सकता हूँ भला और किसी प्राणिक आदान-प्रदान में गिरने का क्या फ़ायदा? समय-समय पर होने वाले दौरे उसे पड़ रहे हैं।" लेकिन उसने ज़ोर दिया कि मुझे ज़रूर उसे जाकर देखना ही चाहिये। सौभाग्यवश, जब मैं वहाँ गया तो 'ड' वहाँ मौजूद था। उसने भी उसका रोना सुना और वहाँ जाकर, कुछ कठोर होकर उसने उसे चुप कराया, कहते हैं कि जब लोग ऐसे उन्मादी और नाटकीय हो जाते हैं तो उनके साथ कठोरता दिखलाना ही एकमात्र तर्कसंगत तरीका होता है। अगर 'ड' वहाँ न होता तो मैं ग़लत चीज़ कर बैठता। मैं उसे बुलाता, उसे सहलाता, उससे मुस्कुराने और हँसने को कहता और उसे एक कहानी सुनाता, जिससे उसे कुछ सान्त्वना मिलती या न मिलती पता नहीं, लेकिन उससे उस पर कोई सच्चा प्रभाव न पड़ता।

उन्माद के ऐसे मामलों में ज़्यादातर बहलाने-फुसलाने या हँसाने का कोई लाभ नहीं होता—अधिकतर कठोरता ही असरदार होती है, क्योंकि सौ में से निन्यानबे बार व्यक्ति के अन्दर कोई ऐसी चीज़ होती है जो इस सबमें दिलचस्पी रखती और सहानुभूति पाना चाहती है, और बात का बतंगड़ बना लेती है। जहाँ तक इससे छुटकारा पाने की बात है तो वह अलग ही मामला है, व्यक्ति के अन्दर के कारण को जड़ से उखाड़ना होगा, जो आसान नहीं होता।

११ अप्रैल १९३५

मेरे सभी दोस्तों ने मुझे एक किनारे कर दिया है! 'व' जो मेरे पास से गुज़र रही थी, एक बार भी उसने मेरा कमरा देखने की इच्छा नहीं दिखलायी! कैसा पतन हो गया है मेरा! काश, अपने साथ उसके मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध को मैं एक सीमा में रखता! लेकिन मेरा ऐसा स्वभाव ही नहीं है—मैं तो भौतिक तक अपना सम्बन्ध रखना चाहता था। और अब लोग मेरी तरफ़ नज़र उठा कर भी नहीं देखते—वे जो दूर से ही मुझे देख कर खुशी से मेरा अभिवादन किया करते थे, जो मेरे चाबी के गुच्छे की छन छन से घोषणा कर दिया करते थे कि देखो, वह जा रहा है... **ते नो दिवसाः गताः** (गुज़र गये वे दिन!) इतने स्नेह के बाद इतनी कठोरता क्यों? मेरे पास से गुज़रते हुए वे मुझसे एक शब्द भी नहीं बोलते। ओह, मैं भाग जाना

चाहता हूँ, भाग जाना चाहता हूँ, 'नूवोते हाउस' में छिप जाना चाहता हूँ जहाँ न कोई मुझे देख सके, न मैं किसी को देख सकूँ और वहीं बैठा-बैठा मैं बस बिसूरता रहूँ, न कोई मुझ पर कान दे, न मेरा रोना सुन सके, न मुझ पर ध्यान ही दे!

लेकिन वह तुम्हारा कमरा देखने की इच्छा क्यों प्रकट करेगी? जब तक कि कमरे में कोई नयी चीज़ न हो। रही बात दूसरी चीज़ों की, तो मनुष्य के स्वभाव और व्यवहार तथा उसके स्नेह और प्रेम के उतार-चढ़ाव का होना एक जाना-माना तथ्य है—तो भला रोना-धोना किसलिए? अपने अन्दर के दार्शनिक को जगाओ और जगत् की परिवर्तनशीलता को एक सन्त की विरक्ति के साथ देखो!

अगर अपनी पत्नी को चिट्ठी लिखने से उसके अन्दर आशा उपजने की सम्भावना हो तो मुझे उसे यहाँ आने का अवसर देने के लिए कोई रास्ता तो ढूँढना ही चाहिये। तो, मैं सोच रहा हूँ कि जैसा कि 'ज' और 'स' ने किया, मैं भी कुछ दिनों के लिए बाहर हो आऊँ—दो दिन बम्बई में, दो दिन सूरत में, दो बड़ौदा में और कुछ दिन राजनैतिक जगत् देखने के लिए रख लूँ। सब मिला कर तीन हफ़्तों से ज़्यादा नहीं ठहरूँगा। मुझे देख कर वे सब कितने खुश हो जायेंगे और मुझे सबके साथ वहीं बस जाने के लिए क्या-क्या कार्यक्रम नहीं सुझायेंगे! फिर मैं यह कह कर उन्हें डराऊँगा कि अगर मैं वहाँ रुक गया तो मर जाऊँगा, क्योंकि एक बड़ा पिशाच मेरे पीछे पड़ा हुआ है! अगर वे फिर भी ज़ोर डालेंगे तो मैं वहाँ ठहर जाऊँगा और सचमुच वहाँ मर कर उन्हें प्रमाण दे दूँगा। तब वे मुझ पर विश्वास कर लेंगे और अगले जनम में मुझे परेशान न करेंगे। बहरहाल, बहुत बड़ा कार्यक्रम बनाया है मैंने, लेकिन शायद बहुत असुविधाजनक है! यह न करके मैं सोच रहा हूँ कि 'न' के साथ बैलगाड़ी में बैठ कर 'उस्टेरी'-झील तक सैर कर आऊँ, झील में डुबकी लगा कर अपने सभी पुरायुगीन पितरों तक का श्राद्ध कर लूँ और किसी मछली के पेट में गये बिना, विजयी होकर बाहर निकलूँ! वैसे, 'न' मुझे बैलगाड़ी में अपने साथ ले जाने के लिए एकदम सहमत हो गया है, जो बहुत बड़ी बात है। लेकिन सवाल यह उठता है कि हम वहाँ खायेंगे क्या—श्राद्ध के उपयुक्त दावत होनी चाहिये!

अगर बैलगाड़ी इत्यादि से तुम्हारा मनोरञ्जन होता है तो क्यों नहीं—लेकिन झील में नहाना तो मुझे कभी नहीं भायेगा। दूसरा कार्यक्रम बहुत लम्बा और जटिल है।

१२ अप्रैल १९३५

'ट' चाहता था कि मैं आधे घण्टे के लिए उसके साथ पहुँ और अनुवाद करूँ।

मैंने अपने दैनिक कार्यक्रम में आध घण्टा निकालने की कोशिश की और देखा कि रात को ९.३० बजे मेरे लिए सुहूलियत होगी। इस काम के लिए मुझे 'ज' से एक शब्दकोश की ज़रूरत थी, उसे पता था कि शब्दकोश में क्यों चाहता था, उसने बड़ी बुद्धिमानी के साथ मुझे सूचना भेजी कि 'ट' बड़ा "भारी" है इसलिए उसे बहुत सँभाल कर रखना होगा। मेरी समझ में नहीं आता कि वह कैसे "भारी" है, यानी, 'ज' का इससे क्या मतलब है—या तो वह बहुत सुस्त है या बहुत अहंकारी या फिर बहुत अधिक जटिलताओं से भरा हुआ। हाँ, भौतिक रूप से वह भारी है, लेकिन इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ेगा, मैंने अपने भारीपन के कितने खतरे उठाये हैं। और मुझे नहीं लगता कि किसी भी अर्थ में वह मुझसे ज़्यादा भारी है। शायद 'ज' की उसके साथ कोई प्राणिक असहमति है!

समझ में नहीं आ रहा। 'ट' का भारीपन शब्दकोश पर क्या असर डालेगा? वह उस पर बैठने तो नहीं जा रहा न? या शायद वह शब्दकोश नहीं, बल्कि तुम्हारे बारे में कह रहा है कि तुम्हें सावधान रहना चाहिये? मुझे नहीं लगता कि कोई खतरा है।

एक महाशय के.जी.एम.—गाँधी का जाना-माना अनुयायी—लेकिन जिसके एक मराठी गुरु हैं, ने 'जीवन-शोधन' नामक किताब लिखी है जिसमें उसका कहना है कि उलझनें पैदा करने में आपकी भाषा ज़िम्मेदार है। 'ज' ने उसे लिखा, और उसने जवाब दिया कि वह आपके या आपके किसी भी शिष्य के दर्शनशास्त्र से सन्तुष्ट नहीं है। चिट्ठी के अन्त में वह लिखता है कि अगर पन्द्रह मिनट वह आपके साथ बात कर सके तो शायद अपना दृष्टिकोण बदल ले, लीजिये, अब आ रहा है ऊँट पहाड़ के नीचे! जब मैं नासिक-जेल में था तो मैंने योगी के.जी.एम. को एक अनुष्ठान करते देखा था ताकि वह एक यान्त्रिक शक्ति पाकर बिच्छू के डंक का उपचार कर सके, बहरहाल, जब मेरे पास के एक व्यक्ति को बिच्छू ने डंक मारा तो वह उसका इलाज करने में सफल न हो पाया। उसने 'आर्य' को इतनी अच्छी तरह समझा कि जब मैंने उससे पूछा कि अतिमानस क्या है तो उसने उत्तर में कहा कि यह बस इन्द्रियों के परे की शक्तियों को देखने के जैसी विद्या है! जब मैंने सुना कि उसे गाँधी के अनुयायियों का एक 'सधा हुआ चिन्तक' माना जाता है तो मैं मूँछों ही मूँछों में मुस्कराया। गाँधीवादियों का अज्ञान ज़िन्दाबाद!

हाँ, स्पष्ट है कि मेरे दर्शन को समझने के लिए उसके अन्दर कोई घपला है, लेकिन कौन इसका ज़िम्मेदार है?—हाँ, शायद यह उसके चिन्तन की कमाई है! मुझे भय है कि योगी किशोरलाल के साथ पन्द्रह मिनट बातचीत का आनन्द उठाना, उनसे सम्मान पाना और उनके दर्शन को इस

जीवन में आत्मसात् करना मेरे लिए बहुत ऊँची चीज़ होगी। इसके लिए पहले मुझे पुण्य बटोरना होगा और उसे पाने के योग्य बनने के लिए दोबारा जन्म लेने की कोशिश करनी होगी!

१३ अप्रैल १९३५

चूँकि आपने झील में नहाने का कार्यक्रम रद्द कर दिया (जो मेरा मुख्य विचार था), 'उस्टेरी' का कार्यक्रम बदल कर हम एक नदी में गये जो यहाँ से डेढ़ मील दूर है। सौभाग्यवश वहाँ एक छोटी नाव थी जो यहाँ से वहाँ लोगों को ला-जा रही थी, पानी दो मीटर से ज्यादा न था—यह एक नवीनता थी। फिर हम खेतों में से गुज़रे जहाँ सुन्दर हरी-भरी घास लहरा रही थी और घने पेड़ों की छाया बिछी हुई थी। 'न' का एक दोस्त कहीं से नारियल जुटा लाया जिनका पानी हमने तृप्त होकर पिया। मैंने वहाँ सौ फ़ीट या उससे भी गहरे कुएँ देखे जिनसे बारहों मास रात-दिन पानी फूटता रहता है। उस व्यक्ति ने हमें सुझाव दिया कि हमें वहाँ एक मकान बनाना चाहिये और हमारा एक खेत भी होना चाहिये जिसमें सभी तरह के फूल खिलें। मैंने उसे यह कर आशा बँधायी कि यह सम्भव हो सकता है, क्योंकि अब शहर में घर मिलने में बहुत मुश्किल हो रही है। अगर आश्रम आगरा के दयाल बाग की तरह बन जाये तो स्वाभाविक है कि उसका विस्तार आस-पास के गाँवों तक हो जाये।

बहुत साल पहले इस तरह का कुछ विचार था, लेकिन परिस्थितियों ने अलग मोड़ ले लिया और यह चीज़ कार्यान्वित नहीं हुई।

१४ अप्रैल १९३५

क्या 'व' और 'ल' मुझसे बहुत ज्यादा महान् हैं कि मैं अपने-आपको उनसे हीन महसूस कर रहा हूँ?

महानता और हीनता का कोई बहुत महत्त्व या मान्यता नहीं होती। हर एक के अन्दर असीम सम्भावनाएँ होती हैं, बस होना चाहिये संकल्प, विजय का उत्साह और समय। हर एक स्वभाव के अपने मोड़ और अन्य चीज़ें होती हैं, किसी में कोई चीज़ अधिक विकसित होती है तो कोई चीज़ कम, लेकिन प्रत्येक को अपना लक्ष्य सामने रख कर उसके अनुसार अपना मानदण्ड बनाना चाहिये। दूसरों के साथ तुलना मूल्यों का ग़लत मापदण्ड ले आती है।

१५ अप्रैल १९३५

अवतार और विभूति के बारे में लोगों के कैसे-कैसे विचार होते हैं! कई गाँधी को अवतार मानते हैं और महादेव देसाई को छोटा अवतार, जैसे राम के बाद लक्ष्मण

हैं। कोई तो चीज़ होनी चाहिये जिसे अवतार या विभूति सफलतापूर्वक कर सकें—गाँधी ने ऐसा कुछ नहीं किया कि उन्हें विभूति कहा जाये। वे लोगों को अपने साथ इसलिए बहा नहीं ले चले कि उनके अन्दर महान् क्षमता थी, बल्कि इसलिए कि युवावर्ग स्वाधीन होने के लिए भूखा था। वह तो युवावर्ग ने उन्हें मञ्च पर चढ़ा कर सत्याग्रह-आन्दोलन आरम्भ करने के लिए विवश किया था। शायद उनके नैतिक विश्वास और उनकी कल्पनाएँ ही थीं कि उन्हें लगता था कि वे हमेशा ईश्वर की आवाज़ सुनते हैं और उनके द्वारा महाशक्ति काम करती हैं, और इसीलिए कुछ लोग उन्हें अवतार मानते थे। अगर असफलताओं की एक लम्बी क्रतार को विभूति का दरजा मिल जाये, तो उन्हें निश्चित रूप से विभूति कहा जा सकता है। लेकिन फिर मैं भी तो छोटे रूप में ऐसा होने का दावा कर सकता हूँ!

शायद असफलता के किसी अवतार का होना सम्भव हो—जो हर चीज़ में असफल होता रहे—यानी, जिसके अन्दर अतिविशाल असफलता की कोई दैवी शक्ति हो या साक्षात् दुर्बलता का कोई अवतार हो जो इतने चमत्कारी रूप से कमज़ोर और दुर्बल हो कि सब यह कहें कि “भगवान् के सिवाय और कोई इतना दुर्बल हो ही नहीं सकता।” और ऐसा क्यों न हो, अर्थात्, जैसे हर गुण की विभूति होती है तो हर अवगुण की क्यों न हो भला? क्या कृष्ण नहीं कहते कि “द्यूतं छलयतामस्मि”—जुआरियों में मैं चालाक हूँ—या इसी आशय की कोई बात नहीं कहते क्या वे? फिर? लेकिन निस्सन्देह, यह बात गाँधी के अवतार होने के प्रश्न का समाधान नहीं करती, क्योंकि वे उपर्युक्त आवश्यकताओं को पूरा नहीं करते; लेकिन इससे विचार करने के लिए एक रुचिकर दृश्य खुल जाता है। स्कॉटलैण्ड में सेना का एक प्रसिद्ध जनरल था जिसे डगलस टीनमन (Douglas Tyneman) के नाम से जाना जाता था (टीनमन का अर्थ है—परास्त); उसे अपने समय के महानतम जनरलों में से एक माना जाता था क्योंकि उसने जितनी भी लड़ाइयाँ लड़ीं, एक सिरे से सभी में परास्त हुआ, लेकिन वह अपने हर युद्ध के पीछे रणनीति के दाँव-पेंचों का ऐसा खेल रचता था कि उसके मित्र और शत्रु सभी उसकी प्रशंसा में उससे अभिभूत हो जाते थे। नेपोलियन का भी सूल्ट (Soult) नामक एक प्रसिद्ध मार्शल था जो यही समान चीज़ किया करता था, लेकिन था वह नायाब रणनीतिज्ञ। स्पेन और पुर्तगाल के बीच हुए पेनिनसुलर युद्ध में उसने रणनीति में वेलिंगटन को हर बार हराया, लेकिन युद्धक्षेत्र में उतरने पर वह वेलिंगटन से हर बार हारा!

कितनी शान्ति और प्रेम को मैं अपने अन्दर आते हुए अनुभव करता हूँ, और फिर भी प्राणिक सम्पर्कों की यह सतही लेकिन प्रबल कामना क्यों बनी रहती है मेरे अन्दर? वे सम्पर्क मुझे शान्ति, ज्योति या पवित्रता नहीं प्रदान करेंगे, लेकिन फिर भी ‘न’, ‘ल’ या किसी भी दूसरे के साथ सम्पर्क की यह प्राणिक लालसा

क्यों रहती है हमेशा? शायद मैं शान्ति, पवित्रता और सत्य को चाहता ही नहीं हूँ।

इसका कोई अर्थ नहीं है—यह बस भौतिक प्राण की एक सहज क्रिया है जो पुरानी प्रवृत्ति को बार-बार दोहराना चाहती है। इस बार जब शान्ति तथा प्रेम उतरें तो तुम्हें सावधान रहना चाहिये कि तुम उसे दूसरों पर न छलकाओ बल्कि अपने अन्दर सँजो कर रखो और उसे वहीं विकसित होने दो—अगर किसी भी आध्यात्मिक लाभ को तुम्हें दृढ़ता से पाना है तो ऐसा करना एकदम अनिवार्य होता है।

आज का ध्यान उनींदेपन और तैरते हुए विचारों तथा इन शब्दों के साथ शुरू हुआ : मुसोलिनी कहता था, “हम ठोस तथ्यों में विश्वास रखते हैं, हम तुम लोगों की तरह गोविन्दजी की मिठाइयाँ नहीं खाते रहते हैं।” मुझे आश्चर्य होता है कि मुसोलिनी बम्बई के मशहूर मिठाईवाले को कैसे जानता था भला? अगला विचार आया तिब्बत के एक लामा का जो कहा करता था, “हमने योग के द्वारा हर चीज़ का अन्वेषण किया है—तुम तो वह ले रहे हो जो हमें पहले से ही प्राप्त है।” शंकरभाई की दृष्टि में ये लामा महान् योगी हैं। बहरहाल, यह बेहतर ध्यान था। हाँ, मुसोलिनी और लामा अच्छा कैंक्रीट सीमेण्ट बनाना नहीं जानते!

वह मुसोलिनी की आन्तर सत्ता होगी जिसने गोविन्दजी की मिठाई चखी होगी—शायद कलकत्ते के भीम नाग के सन्देशों को भी उसने चखा हो! ये मिली-जुली चीज़ें गभीरतर चेतना के रास्ते में आ जाती हैं—उस रास्ते में एक ऐसा स्थान है जहाँ इस तरह की सभी मिली-जुली चीज़ें तैरती-उतरती रहती हैं—मेरे ख़याल से यह अवचेतना का एक भाग है—उसका प्राणिक-भौतिक भाग।

१६ अप्रैल १९३५

‘व’ ने आज सवेरे मुझसे कहा कि उसके रिश्तेदार यहाँ आये हैं और मेरी पत्नी की एक चिट्ठी मेरे लिए लाये हैं। वह जानता है कि मैं वहाँ की चिट्ठियाँ नहीं लिया करता और उसने वहाँ वालों से यह बात कह भी दी थी। उसने मेरी इस बात का समर्थन भी किया कि यह अच्छी बात है कि मैं अपने परिवारवालों को चिट्ठी नहीं लिखता। वह देखता है कि वहाँ के लोग हमें आकर्षित करते हैं, तंग करते हैं, यहाँ तक कि एक बार चिट्ठी-पत्री शुरू हो जाने के बाद यहाँ आ भी जाते हैं और इससे कठिनाइयाँ पैदा हो जाती हैं। लेकिन अगर साधना की दृष्टि से वे कठिनाइयाँ न भी पैदा करें, हमारे जीवन में कोई ख़लल न डालें, यहाँ तक कि किसी तरीक़े से सहायक भी बन जायें, फिर भी उनके साथ पत्राचार करने के लिए हमारे पास क्या बातें होंगी? ज़्यादा से ज़्यादा हम उन्हें योग और साधना के बारे में लिखते

जा सकते हैं, लेकिन मुझे शंका है कि क्या उन बातों को वे हृदयंगम कर पायेंगे? निस्सन्देह, उन लोगों पर कुछ असर जरूर पड़ सकता है जो अधिक तैयार हैं, और ऐसे लोग उनकी कुछ मदद कर सकेंगे।

यही कारण है कि हम बाहर रिश्तेदारों वगैरह के साथ चिट्ठी-पत्री के पक्ष में नहीं हैं। सम्पर्क रखने का कोई तुक नहीं है, क्योंकि तब तुम्हें निश्चय ही उनके स्तर पर उतरना होगा जो निस्सन्देह योग के दृष्टिकोण से अवाञ्छनीय है। मुझे नहीं लगता कि चिट्ठियों के जरिये बहुत प्रेरणा पहुँचायी जा सकती है, क्योंकि उनकी चेतना बिलकुल तैयार नहीं है। शब्द ज़्यादा से ज़्यादा केवल उनके मन की सतह को छू सकते हैं; जो महत्त्वपूर्ण है वह है, शब्दों के पीछे की कोई चीज़, लेकिन उसके प्रति वे उद्घाटित नहीं हैं। अगर आध्यात्मिक चीज़ों में उन्हें पहले से ही रस है तब अलग बात है। तब भी बहुधा यही बेहतर होता है कि लोगों को इस पथ पर खींचने की बजाय उन्हें उनकी लीक पर चलने के लिए छोड़ दिया जाये।

१७ अप्रैल १९३५

सामान्य जीवन में कई निषिद्ध गतियों पर लोग संयम कैसे बरतते हैं और कैसे शान्त बने रहते हैं? यह केवल सामाजिक दबाव नहीं हो सकता, क्योंकि शान्त और प्रकृतिस्थ रहने के लिए तो उन्होंने अपने अन्दर अभ्यास द्वारा या किसी और तरीके से शान्ति इकट्ठी की ही होगी न?

सामाजिक दबाव के साथ-साथ मनुष्य एक तरह के मानसिक संयम की भी आदत बना लेता है, जिसे वह वस्तुतः सामाजिक दबाव के कारण ही अपनाता है। इसका कारण शान्ति की वजह बिलकुल नहीं है। सामाजिक दबाव को आंशिक रूप से हटा दो, जैसा कि इंग्लैण्ड और अमरीका ने किया है, और फिर देखो, लोग मानों पगहा छुड़ा कर भागते हैं और अपने प्राणिक आवेगों के हाँके हँकते हैं, और सारा संयम धरा का धरा रह जाता है—हाँ, अपवाद होते हैं वे जो अतीत के अपने धार्मिक और नैतिक विचारों से चिपके रहते हैं और समाज भले डिग जाये, वे अपने विचारों से कभी नहीं डिगते।

श्रीमती लैला ने 'टाइम्स' पत्रिका में कुछ भविष्यवाणियाँ की हैं जिनमें उनका कहना है कि भारत की सभ्यता तथा दर्शन क्रमशः, बहुत धीमे-धीमे, सारे संसार में फैल जायेंगे और लोग उसमें रस लेने लगेंगे। अन्त में, वह दुनिया-भर में उत्तम संस्कृति के रूप में प्रसिद्ध हो जायेगा। लेकिन 'त्र' इससे सन्तुष्ट नहीं है। वह इस भविष्यवाणी पर आपत्ति उठाता है कि भारत हमेशा ब्रिटेन के अधीन रहेगा। मेरे खयाल से उसने हमारे उद्देश्य के लिए अभी के लिए पर्याप्त भविष्यवाणी कर दी है। वरना, अगर



भारत बहुत जल्दी स्वतन्त्र हो जाये तो यहाँ के लोग अपच के शिकार हो जायेंगे। कोई शक्ति प्राप्त न होने के पहले से ही तो काँग्रेस के लोग अहंकारी नियन्त्रण और शक्ति पाने के लिए प्रतियोगिता में जुट गये हैं।

निश्चित रूप से भारत की आत्मा का चारों तरफ़ प्रसारित होना अवश्यम्भावी है। रही बात स्वतन्त्रता की, तो वह तो अनिवार्य है और यह भी निर्विवाद तथ्य है कि कोई भी साम्राज्य हमेशा नहीं बना रहता—लेकिन मुझे लगता है कि स्वाधीनता पाने के पश्चात्, पहले कुछ दिन काफ़ी चुनौतीपूर्ण रहेंगे। शायद यहाँ की घूसखोरी, परस्पर लड़ाई-झगड़े और अव्यवस्था से पीछा छुड़ाने के लिए किसी मुसोलिनी को उठना होगा।

एक सपने में मैंने दो शक्तिशाली पुरुषों को एक साथ मिरगी के दौरे से गुज़रते देखा। लोगों ने उन्हें पकड़ कर चारों तरफ़ से घेर लिया। उनमें से एक के पास जाकर मैंने उसे फटकारा। मिरगी की उसकी शक्ति चली गयी, लेकिन मेरी डाँट-फटकार से वह कुढ़ गया। मैं बाहर निकल आया, लेकिन फिर मुझे किसी ने अन्दर बुलवाया जो डॉ. 'ड' की तरह लग रहा था, मैं जिस छात्रावास में रहता था उसके सुपरिंटेंडेंट थे डॉ. 'ड'। उन्होंने मुझसे कहा, "तुम नहीं जानते कितने सड़े हुए आदमी हो तुम!" फ़ौरन मैंने ईंट का जवाब पत्थर से देते हुए उससे कहा कि एकदम से मूर्ख है वह और मिरगी और उससे प्रभावित लोगों की मनोवृत्ति के बारे में बिलकुल कुछ नहीं जानता; तो उपद्रवी की भाँति इस मामले में अपनी टाँग क्यों अड़ा रहा है वह? सभी मुँह बाये खड़े के खड़े रह गये, क्योंकि उनकी समझ में ही नहीं आ रहा था कि वे करें क्या! लेकिन कैसी आलंकारिक भाषा में मैं धाराप्रवाह, ऊँची आवाज़ में, एक-एक शब्द पर ज़ोर देते हुए, स्पष्ट रूप से बोल गया—ऐसी चीज़ जो मैं शायद जाग्रत् अवस्था में भी नहीं कर पाता।

भौतिक यन्त्र की अपेक्षा आन्तरिक प्राण हमेशा ऊर्जा और सम्भावनाओं से भरा रहता है—उसे उसकी सीमाओं के बाड़े में बाँध कर नहीं रखा जा सकता।

१८ अप्रैल १९३५

'ज' जो आजकल यात्रा करने के 'मूड' में है, उसने मेरे सामने प्रस्ताव रखा कि अगर मेरे लिए सुहूलियत हो तो मुझे उसके साथ किसी यात्रा पर निकलना चाहिये। मैंने उससे कहा कि मैं बहुत व्यस्त हूँ और बहुधा बाहर नहीं जा सकता। कभी-कदास ही, और महीनों बाद मैं 'न' के साथ बाहर गया था, हालाँकि मुझे मज़ा आया, लेकिन उसका परिणाम एकदम सुखद न था। एक तो मैं घुमक्कड़ हूँ ही नहीं, दूसरे

न में 'ज' की तरह युवा हूँ कि हर तरह के जोखिम उठाने के लिए तत्पर रहूँ। मैं तो बूढ़ों और पेंशनभोगी की तरह कहूँगा, "मुझे अपने ये दिन शान्ति में गुज़ारने दो। और तुम्हें तुम्हारे दिन मुबारक!"

मेरे खयाल से 'ज' सभी तरह के क्षेत्रों में काफ़ी घूमता रहता है इसलिए उसके अन्दर भौतिक रूप से हर जगह जाने की इतनी 'घुमक्कड़ी-ललक' नहीं होनी चाहिये।

१९ अप्रैल १९३५

श्रीअरविन्द